का

शास्त्रीय स्वर

काशी हिंदू विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत

प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन



लेखक

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम. ए., डी. लिट्.

अध्यापक हिंदी-विभाग,

हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।

प्रकाशक

सरस्वती-मंदिर

जतनबर, बनारस।

प्रकाशक
सरस्वती-मंदिर
जतनबर, बनारस।

प्रथमावृत्ति— सं० २००० वि०
द्वितीयावृत्ति— सं० २००२ वि०
तृतीयावृत्ति— स० २००६ वि०
चतुर्थावृत्ति— स० २०१० वि०

मूल्य ४॥)

मुद्रक—
विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस, भैरोनाथ, बनारस।



जयशंकर 'प्रसाद'

आमुख

'प्रसाद' के अधिकांश रूपक ऐतिहासिक हैं, अतएव बहुत दिनों से आवश्यकता इस बात की दिखाई पड़ रही थी कि उन नाटकों के वस्तु-विस्तार में आए हुए पात्रों और घटनाओं के मूल स्रोतों का ऐसा परिचय दिया जाय कि इतिहास के साथ उनकी संगति समझने में कोई अड़चन न हो। साधारणतः उपलब्ध इतिहास-ग्रंथ इस विषय में पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वे प्रायः मुख्य व्यक्तियों से संबद्ध मुख्य कार्य-व्यापार और वस्तु-स्थिति का ही उल्लेख करते हैं। नाटककार ने वस्तु-संविधान और चरित्र-चित्रण में इतिहास-संमत सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटनाओं का भी उपयोग किया है और ऐसी प्रासंगिक घटनाओं एवं परि-स्थितियों का विवरण किसी एक ही इतिहास-ग्रंथ में पाना प्रायः संभव नहीं। ऐसी अवस्था में यदि कोई उसकी कृतियों का पूर्ण आस्वादन करना चाहे तो उसके लिए इतिहास के अगाध सागर में बिखरी सामग्री का समुद्धार और उसका प्रामाणिक ज्ञान अपेक्षित होगा। इस प्रबंध में मुख्य रूप से प्रयास तीन विषयों की ओर गया है। प्रथम चेष्टा तो इस बात की हुई है कि प्रमुख रूपकों की नाटकीय वस्तु में अन्वित ऐतिहासिक अंशों का सुसंबद्ध उल्लेख उपस्थित किया जाय। जहाँ तक हो सका है प्रबंध का यह अंश प्रमाण-संमत बनाया गया है—अवश्य ही इस विषय में ऐतिहासिक मतभेद की जटिलता से पृथक् रहना उचित समझा गया है।

नाट्य-रचना का भारतीय विधान पूर्ण एवं संपन्न है। उसके सार्व-कालिक तथा सार्वजनीन सिद्धांत आज भी भारतवर्ष में नाट्य और

]

३५. ग है। भले ही कीथ* प्रभृति पश्चिमी विद्वान् आत्मदैन्यानुभूति-मूलक उद्गार निकालते और मीन-मेष करते रहें; भारत आज भी आदर्श-प्रिय तथा सद्‌-विवेचना का निपुण प्रेमी बना है। 'प्रसाद' के नाटकों में प्राचीन अर्वाचीन का अभिनव दर्शन बहुत खुलकर होता है। इसी विषय का प्रतिपादन प्रस्तुत रचना का दूसरा प्रयास है। प्रसंग पर यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि इन रूपकों में नवग्राहिता भी पर्याप्त मात्रा में है। सक्रियता के साथ व्यक्तिवैचित्र्य और शोक-समुन्मेष के साथ कार्योत्साह का अनुबंध भी उनमें मिलता है। यह अनुबंध विशेषतः व्यक्तिगत चारित्र्य और संविधानक के प्रसारगामी स्वरूप में स्फुट दिखाई पड़ता है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में इन्हीं विषयों का अभाव डा० कीथ को विशेष खटका है। इस नव-योजना की सहायता से 'प्रसाद' ने भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखा है।

---

* (i) The writers of the classical drama accept without question the forms imposed upon them by authority, although that authority rests on no logical or psycho logical basis, but represent merely generalization, often hasty, from a limited number of plays—p. 352,

(ii) There is doubtless pedantry in the theory of sentiment; the choice of eight emotions, the subordination to them of transitory states, the enumeration of determinants and consequents, are largely dominated by empiricism, and not explained or justified.—p. 326.

(iii) But the definitions and the classifications are without substantial interest or value.—p. 300

(iv) The classification to elements of the plot is perhaps superfluous besides the junctures.—p 299.

(v) I have no doubt that the value and depth of the Indian theory of poetics have failed to receive recognition. simply because in the original sources what is important and valueless are presented in almost inextricable confusion.—Preface.

—The Sanskrit Drama in its Origin, Development, Theory and Pract·ce by A Berriedale Keith (1921)

'प्रसाद' की व्याख्या, तीसरा विषय है जिसका प्रयास प्रस्तुत रचना में किया गया है। यह व्याख्या बुद्धिपक्ष और हृदय-पक्ष दोनों की है। जहाँ तक हो सका है नाटक [illegible] की भावुकता तथा विचारधारा का समन्वय दिखाया गया है और उसकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाशन हुआ है।

प्रस्तुत रचना में जहाँ अंग का पूर्णतया अनुसंधान किया गया है वहीं अनंग-कथन से बचने की पूरी चेष्टा की गई है। इष्ट-सीमा का निर्धारण कड़ाई से किया गया है और आनुषंगिक विषयों पर कुछ नहीं लिखा गया। 'स्कंदगुप्त' की तारतमिक तुलना में राखालदास बैनर्जी के 'करुणा' उपन्यास पर लिखा जा सकता था; 'चंद्रगुप्त के साथ द्विजेंद्रलाल राय के 'चंद्रगुप्त' अथवा विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' के साम्यासाम्य का विचार किया जा सकता था; पर ऐसे प्रलोभनों में पड़ने से पतिपाद्य की एक एकनिष्ठता के बिगड़ने का भय था। इसी प्रकार 'प्रसाद' का जीवन वृत्त, हिंदी में नाट्य-रचना और उसके इतिहास में 'प्रसाद' का स्थान आदि विषय भी हैं। ऐसे आनुषंगिक विषयों पर अभी तक कोई नवीन उपलब्धि भी नहीं विदित हुई है जिसका उल्लेख करने के लिए मैं आकृष्ट होता।

स्थल निर्देश की आवश्यकता प्रधानतः ऐतिहासिक विवेचना के संबंध में समझी गई है अतएव वहाँ उसका पूरा उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि प्रसंगतः कहीं परिभाषिक शब्द आया है तो पाद-टिप्पणी में उसके मूल स्थल का निर्देश कर दिया गया है। लेखधारा में रूपकों के जो अनेक उद्धरण समाविष्ट हुए हैं उनके स्थलों का उल्लेख अनावश्यक समझकर नहीं किया गया है। नाटक-रचना का काल-क्रम आरंभ में ही दे दिया गया है। विवेचना के प्रवाह में कालक्रम का ध्यान न रखकर रचनानुगुण-वर्गीकरण आवश्यक समझा गया है।

औरंगाबाद, काशी
१३-६-१६४३

जगन्नाथप्रसाद शर्मा



विषय-सूची

——

'प्रसाद' की नाट्य-कृतियों का काल-क्रम

(१) सज्जन—'इंदु', कला २, किरण ८, ९, १०, ११—सन् १९१०-११।

(२) कल्याणी-परिणय—'नागरी-प्रचारिणीपत्रिका', भाग १७, संख्या २—सन् १९१२।

(३) करुणालय—'इंदु', कला ४, खंड १, किरण २—सन् १९१२।

(४) प्रायश्चित्त—'इंदु', कला ५, खंड १, किरण १—जनवरी सन् १९१४।

(५) राज्यश्री—'इंदु', कला ६, खंड १, किरण १—जनवरी सन् १९१५।

(६) विशाख—सन् १९२१। प्रकाशक—हिंदी-ग्रंथ-भंडार, काशी।

(७) अजातशत्रु—सन् १९२२। प्रकाशक—हिंदी-ग्रंथ-भंडार काशी।

(८) कामना—यह रचना सन् १९२३-२४ में लिखी गई, परंतु पुस्तक रूप में प्रकाशित होने का समय सन् १९२७ दिया है, 'प्रसाद' की केवल एक यही रचना ऐसी है जो तीन-चार वर्ष तक अप्रकाशित रही।

(९) जनमेजय का नाग-यज्ञ—सन् १९२६। प्रकाशक—साहित्य-रत्नमाला कार्यालय, काशी।

(१०) स्कंदगुप्त—सन् १९२८। प्रकाशक—भारती-भंडार, काशी।

(११) एक घूंट—वस्तुतः यह पुस्तक सन् १९३० में छपी है। पुस्तक में प्रकाशन-काल सन् १९२९ दिया है, जो संभवतः इसका लेखन-काल है। प्रकाशक—पुस्तक-मंदिर, काशी।

(१२) चंद्रगुप्त—सन् १९३१। प्रकाशक—भारती-भंडार, काशी।

(१३) ध्रुवस्वामिनी—सन् १९३३। प्रकाशक—भारती-भंडार, काशी।

लेखक की अन्य रचनायें

१—हिन्दी-गद्य के युग निर्माता	३।।)
२—आदर्श निबंध	२)
३—हिन्दी-गद्य शैली का विकास	२।।)
४—गद्य काव्य तरंगिणी	२।)
५—स्कन्दगुप्त समीक्षा	।।।≡)
६—चन्द्रगुप्त समीक्षा	।।≈)
७—अजातशत्रु समीक्षा	।।)

———

प्रसाद के नाटकों

का

शास्त्रीय अध्ययन

एकांकी रूपक

परीक्षा-काल

यों तो नाटक-रचना का प्रयास 'प्रसाद' जी ने अपने बीसवें वर्ष के पूर्व ही प्रारंभ कर दिया था, परंतु वह केवल परीक्षा-काल था। उस समय जो उन्होंने चार एकांकी रूपक लिखे उनसे उनका अभिप्राय केवल इतना ही विचार करना था कि स्थिर होकर कौन ढंग पकड़ना है। इसी उद्देश्य से 'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'कल्याणी-परिणय' और 'करुणालय' लिखे गए।

सज्जन और प्रायश्चित्त

'सज्जन' का कथानक महाभारत के अंश-विशेष पर आश्रित है। कुटिल राजनीति की सफलता से उन्मत्त और चाटुकार मित्रों के विषाक्त परामर्श से उत्साहित होकर दुर्योधन अपने उदार-चित्त और सज्जन भाई पांडवों को वन में भी शांतिपूर्वक कालक्षेप करते नहीं देख सकता। उत्सव मनाने के विचार से वह उस वन में आता है जहाँ वनवास करते हुए पांडव अनेक आपत्तियों का नित्य सामना कर रहे हैं। उत्सव समाप्त हो चुकने पर मृगया खेलने की मंत्रणा होती है। गंधर्व चित्रसेन उस वन का रक्षक है। वह नम्रतापूर्वक दुर्योधन से निवेदन करता है कि यह मृगया-वन नहीं है। दुर्योधन अपने वैभव के बल पर गंधर्वराज की आज्ञा नहीं मानता। फलस्वरूप दोनों में युद्ध होता है और दुर्योधन अपने मित्रों के साथ बंदी होता है। उसी वन के दूसरे भाग में स्थित पांडव-दल को जब इस घटना की सूचना मिलती है तो धर्मराज युधिष्ठिर उसी समय वीरवर अर्जुन को आज्ञा देते हैं कि तुरंत जाकर अपने बाहुबल से दुर्योधन को छुड़ा लाएँ। अर्जुन आज्ञापालन के विचार से जाकर चित्रसेन की सेना से युद्ध करते हैं। युद्ध करते समय जब चित्रसेन अपने पूर्वपरिचित मित्र को पहचानता है तो युद्ध रोककर उसी के साथ युधिष्ठिर के समीप आता है और दुर्योधनादिक को बंधनमुक्त कर देता है। दुर्योधन युधिष्ठिर की ऐसी देवोपम उदारता देखकर लज्जित होता है।

'प्रायश्चित्त' का कथानक इतिहास की एक किंवदंती का आश्रय लेकर खड़ा है। प्रतिकार एवं क्लेश-बुद्धि से प्रेरित होकर जयचंद में दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। परिणाम-स्वरूप वह अपने जामाता पृथ्वीराज पर चढ़ाई करता है और युद्ध में उसे मारकर पाशविक प्रसन्नता से नाचने लगता है। उसी समय आकाशवाणी के रूप में उसे दुष्ट कृत्यों के लिए भर्त्सना मिलती है। उस भर्त्सना को सुनकर और इस रक्तपात की विभीषिका के मूल में अपने को पाकर उसके हृदय में पश्चात्ताप उत्पन्न होता है। निर्जन तथा शून्य अंतरिक्ष के कोने से उसे अपनी प्रिय पुत्री संयोगिता की मूर्ति झाँकती हुई दिखाई पड़ती है। सहसा प्रायश्चित्त की वह भावना स्थायी रूप धारण करती है और अर्धविक्षिप्त अवस्था में ही वह रणभूमि से लौटता है। उसी समय मुहम्मद गोरी उस पर चढ़ाई करता है और वह सैन्य-नियंत्रण का सारा दायित्व अपने पुत्र तथा मंत्री पर छोड़, स्वयं राजकीय कार्यों से तटस्थ होकर गंगा में धँसकर प्राण विसर्जन करता है।

वास्तव में इन एकांकी रूपकों में न तो कथानक की ही कोई विशेषता है न चरित्र-चित्रण की। प्रसिद्ध घटनाओं का इनमें नाटकीय रूप में उल्लेख मात्र है। कथांश का क्षेत्र इतना संकुचित है कि उसके नियंत्रण एवं संविधान में लेखक को कितनी कुशलता दिखानी पड़ी है इसका ज्ञान ही नहीं हो पाता। लेखक का उद्देश्य केवल उन घटनाओं का वर्णन है; अतएव पात्रों के चरित्र के विषय में वह मूक है। घटना-क्रम को देखने से पात्रों के चरित्र का आभास भर मिलता है और लघु सीमा में उतने से अधिक संभव भी नहीं है। 'सज्जन' में 'इत तें ये पाहन हनैं, उत ते वे फल देत' का ही उदाहरण है। एक ओर दुराग्रही, उच्छृङ्खलता का स्वरूप, अहंकार में चूर्ण और संतोषी भ्राताओं से आंतरिक द्वेष रखनेवाला दुर्वृत्त दुर्योधन है और दूसरी ओर सज्जनता के अवतार, मनुष्य की दुर्भावनाओं एवं पशुताओं से सर्वथा मुक्त शुद्ध बुद्धि के धर्मराज युधिष्ठिर है। एक पाप में और दूसरा पुण्य में अनु-रक्त है। एक ओर उग्र स्वभाव की विद्वेष-ज्वाला है और दूसरी ओर शीतलता का सागर। दुर्योधन ने नीचता पर कमर कसी है और युधिष्ठिर साधुवृत्ति का परित्याग पाप मानते हैं। अंत में आकर लेखक ने 'सत्यमेव जयते' का ही प्रतिपादन किया है। इस प्रकार के राम-

रावण के समान द्वंद्व से हम इतने अधिक परिचित हैं कि उसमें कोई विशेष आकर्षण नहीं रह गया।

चरित्र-चित्रण की यही अवस्था 'प्रायश्चित्त' में भी है उसमें तो केवल एक ही व्यक्ति है जो अपनी दुर्वृत्ति और दुष्ट स्वभाव से प्रेरित होकर घातक घटनाओं के कर्दम में जा गिरता है। प्रतिकार की भावना इतनी उग्र होती है कि मनुष्य को विक्षिप्त कर देती है। उसे अपनी हानि और लाभ तक नहीं दिखाई पड़ता। आवेश का ऐसा भयानक भूत सवार होता है कि वह स्वयं अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मार लेता है। जयचंद की यही अवस्था दिखाई गई है। द्वेष-बुद्धि और प्रतिकार-भाव ने उसे अभिभूत कर लिया है। इसलिए उसे अपना-पराया कुछ नहीं सूझता। अपने जामाता की मृत्यु एवं प्रिय पुत्री के वैधव्य का कारण वह स्वयं बन जाता है। पहले तो राक्षसभाव जागरित होकर उसे पशु बना देता है, उसके शांत होने पर और बात सुझाई जाने पर पीछे उसमें साधुभाव जगता है। उस साधुवृत्ति की चेतना परिस्थितियों के कारण निर्बल प्रमाणित होती है, क्योंकि उसे सत्कर्म की ओर प्रवृत्त नहीं करती। उसके मन में प्रायश्चित्त की भावना उत्पन्न होती है; परंतु उस भावना में कायरता और विवशता का विचित्र संमेलन है। वह प्रायश्चित्त की वेदी पर अपने जीवन को चढ़ा देता है; परंतु अपने में कर्मण्यता, बल, पौरुष और उत्साह का रूप नहीं स्थापित कर सकता। वह इतना निर्बल और अशक्त हो जाता है कि उसमें अपने दायित्व तक का विचार नहीं रह जाता और आक्रमण की आशंकापूर्ण परिस्थिति में भी, युद्धस्थल की कठोरताओं से त्रस्त कायर सैनिक की भाँति, कर्मक्षेत्र से भागकर गंगा में घसकर प्राण त्याग देता है।

चरित्र-चित्रण एवं कथानक संबंधी कोई विशिष्टता न रहने पर भी इन आरंभिक रूपकों में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख इस स्थल पर आवश्यक प्रतीत होता है। उन विशेषताओं का प्रभाव लेखक की परवर्ती रचना-शैली पर दिखाई पड़ता है। लेखक ने दोनों रूपकों में दो विभिन्न परिपाटियों का प्रयोग किया है। 'सज्जन' में प्राचीन शैली का रूप मिलता है। आरंभ में नांदी-पाठ और सूत्र-धार-नटी का विनियोग किया गया है। अंत में लेखक ने मंगल-कामना

के रूप में प्रशस्ति-वाक्य की भी योजना की है। हरिश्चन्द्र-काल तक इस प्रणाली का निर्वाह भली-भाँति हुआ है। परीक्षा-रूप में 'प्रसाद' ने भी उसे अपनाया; परंतु परवर्ती रचनाओं में आरंभ और समाप्ति की यह शैली नहीं रखी गई। इसके अतिरिक्त गद्यात्मक कथोपकथन के साथ-साथ पद्यात्मक संवादों की जैसी अव्यावहारिक तथा कृत्रिम योजना उस समय के पारसी ढङ्ग पर लिखे गए साधारण नाटकों में दिखाई पड़ती है उसका अनुसरण—परीक्षा के विचार से इस रूपक में 'प्रसाद' ने भी किया है। कथोपकथन की यह शैली कितनी अस्वाभाविक है इसका अनुभव उन्होंने थोड़े ही में कर लिया। परवर्ती रचनाओं में क्रमशः इस परिपाटी का प्रयोग कम होता गया है। यों तो कुछ-कुछ ऐसे रूप इधर तक के नाटकों में प्राप्त होते हैं; परन्तु वे नहीं के बराबर हैं। कथोपकथन की इस प्रणाली का उपयोग यदि सीमाबद्ध हो और स्थान-विशेष पर उस रूप में किया जाय जिस रूप में सिद्धांत की उक्तियों का प्रयोग हम लोग अपनी व्यावहारिक बातचीत में करते हैं तो कोई हानि नहीं। इस एकांकी रूप में पद्यात्मक कथोपकथन की भरमार है। पद्यों की भाषा-ब्रज है; परन्तु यह ब्रज-भाषा अपने में नवीन भावभंगी का समावेश करती दिखाई पड़ती है।

'प्रायश्चित्त' में 'सज्जन' की शैली का सर्वथा विपर्यय पाया जाता है। एक शैली की परीक्षा करने के उपरांत लेखक ने इसमें दूसरा ढङ्ग पकड़ा है। इसमें नांदी-पाठ और सूत्रधार द्वारा नाटक का आरम्भ नहीं किया गया। अन्त में प्रशस्ति द्वारा समाप्ति भी नहीं रखी गई। इस प्रकार उस प्राचीन परिपाटी का विसर्जन किया गया है जिसका यथोचित निर्वाह 'सज्जन' में किया गया था। इस रूपक में पद्यात्मक संवादों का भी सर्वथा अभाव है। इस कारण संभव है कुछ लोगों को कथानक रूखा दिखाई पड़े; परंतु स्वाभाविकता के विचार से यह ढंग व्यावहारिक मालूम पड़ता है। इसमें आकाशवाणी का जो विशेष आयोजन है उसकी कोई आवश्यकता न थी। इस रूपक की प्रधान विशेषता यह है कि पात्रों की सामाजिक स्थिति का विचार कर लेखक ने उनके अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। यह प्रयोग भी केवल परीक्षा के विचार से किया गया है, क्योंकि भविष्य में उसका प्रयोग नहीं है।

कल्याणी-परिणय

इस एकांकी रूपक का मूल आधार वह ऐतिहासिक तथ्य है जिसके अनुसार नंदकुल के उच्छेदक चंद्रगुप्त मौर्य ने अपने पराक्रम से सिल्यूकस ऐसे वीर विजेता को परास्त कर उसकी पुत्री के साथ विवाह-संबंध स्थापित किया था। यों तो इसमें नाटकीय अवतारणा केवल आंशिक ही है; परंतु इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि पीछे का लिखा हुआ नाटक 'चंद्रगुप्त' इसी का परिवर्धित एवं पूर्ण रूप है। केवल घटना और चरित्रांकन में ही यह संबंध नहीं दिखाई देता अपितु दोनों की भाषा एवं पदावली तक मिलती-जुलती है। इस एकांकी के प्रमुख पात्र चाणक्य, चंद्रगुप्त, कार्नेलिया और सिल्यूकस हैं। दो घटनाओं के बीच में रखकर इनके चरित्रों की मूल वृत्तियों का आभास दिया गया है।

चाणक्य इस उधेड़-बुन में लगा दिखाई पड़ता है कि किस प्रकार चंद्रगुप्त की ऐसी सहायता करूँ कि वह विदेशी सिल्यूकस को परास्त करे और फिर इन दोनों का कुछ ऐसा संबंध स्थापित हो जिससे मैत्री-भाव सर्वदा के लिए दृढ़ हो जाय। चंद्रगुप्त भी अपने प्रतिपक्षी को नीचा दिखाने में तत्पर दिखाई पड़ता है। इस प्रकार नायक का लक्ष्य विजय-प्राप्ति है। फल रूप में विजय के साथ-साथ चंद्रगुप्त को एक प्रेमिका और जीवन संगिनी भी मिल जाती है। इस एकांकी में शृंगार से पुष्ट वीर रस की ही झलक मिलती है। रचना का नामकरण भी परिणाम को देखकर ही किया गया है। चंद्रगुप्त का प्रधान व्यापार सिल्यूकस-विजय है और उसकी समाप्ति परिणय से होती है; अतएव नामकरण उचित ही हुआ है।

कथानक में केवल एक ही प्रधान घटना है। आरंभ में कौटिल्य अपने नाम की सार्थकता का विचार करता हुआ अपने गुप्तचरों के द्वारा अपने भावी कार्य-व्यापार का संयोजन करता दिखाई देता है। दूसरे दृश्य में चंद्रगुप्त मृगया में दिखाई पड़ी सुंदरियों का उल्लेख करते हुए उनके प्रति अपना आकर्षण प्रकट करता है और अचानक शत्रुओं के आक्रमण की सूचना पाकर अपने सेनापति चंडविक्रम को आदेश देता है कि वह ग्रीक सेना पर प्रत्याक्रमण की व्यवस्था करे। आगे चलकर कथा के क्रम में कार्नेलिया प्रथम दर्शन के आधार पर ही चंद्रगुप्त

से प्रेम प्रकट करती है और सिल्यूकस भी पराजय के अपमान का अनुभव करता है। इसी समय सीरिया पर एंटिगोनस की चढ़ाई की सूचना से त्रस्त होकर वह संधि-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। परिणामतः सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया का विवाह चंद्रगुप्त के साथ होता है और चंद्रगुप्त अपने श्वशुर की सहायता के लिए अपने सेनापति चंडविक्रम को नियुक्त करता है।

रूपकोचित वस्तु-विन्यास इस रचना में नहीं दिखाई पड़ता। दौड़ भी थोड़ी है और उसमें ऐसा सीधापन है कि वस्तु-विकास का ज्ञान नहीं हो पाता। एक ओर से चलकर, एक साँस में, कथा अन्त तक चली जाती है। यही कारण है कि इसमें नाटकत्व नहीं मिल पाता। यहाँ चरित्र-चित्रण का भी विशेष अवसर नहीं मिला है।

चाणक्य की बुद्धिकुशलता, दूरदर्शिता और निर्लिप्त कर्मयोग की झलक स्थान-स्थान पर मिल जाती है। साम्राज्य के प्रतिनिधि-रूप चंद्रगुप्त के लिए वह आद्यंत मंगल-योजना में लगा दिखाई पड़ता है। चंद्रगुप्त युद्ध-कुशल, वीर और व्यवहारपटु है। मैत्री और विरोध दोनों में उदार है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सदैव तत्पर रहता है। सिल्यूकस भी वीर प्रकृति का है। अपने पराजय से अपमान का अनुभव करता है। समय और अवसर का विचार करके अधिक लाभ की बात शीघ्र ही सोच लेता है।

इस एकांकी रचना-पद्धति में दो विशेपताएँ दिखाई पड़ती है। आरंभ में नांदी-पाठ और अन्त की प्रशस्ति में भारतीय मंगल विधान की झलक है। संवादों में सर्वत्र पद्य का प्रयोग किया गया है। यह प्रवृत्ति 'प्रसाद' में स्थिर नहीं रह सकी। धीरे-धीरे इसकी कमी होती गई है और अन्त में इसका सर्वथा त्याग हो गया है। इसके अतिरिक्त गानों का विनियोग भी प्रसंगानुकूल एवं साभिप्राय हुआ है।

करुणालय

'करुणालय' दृश्यकाव्य गीतिनाट्य के ढङ्ग पर लिखा गया है। सर्वप्रथम इसका प्रकाशन 'इंदु' (चतुर्थ कला, प्रथम खंड, द्वितीय किरण, माघ, १९६९) में हुआ और उसके उपरांत 'चित्राधार' संग्रह में यह संकलित हुआ। इसमें वाक्य-रचना के अनुसार विरामचिह्न दिए गए हैं और तुकांतहीन मात्रिक छंद में इसकी रचना हुई है।

इसके पूर्व हिंदी में इस प्रकार की रचना नहीं दिखाई पड़ी थी। नवीन प्रयोग के अभिप्राय से ही लेखक ने यह ढङ्ग पकड़ा था। इसमें ख्यात पौराणिक वृत्त का आधार लेकर नाटकीय पद्धति पर दृश्यों का विभाजन किया गया है और वस्तु का आरोह-अवरोह भी उसी क्रम से रखा गया है।

इस एकांकी में पाँच दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में अयोध्यापति हरिश्चंद्र अपने सेनापति ज्योतिष्मान् के साथ नौका विहार करते दिखाई पड़ते हैं। वहीं आकाशवाणी होती है, जिसके द्वारा उन्हें स्मरण दिलाया जाता है कि उन्होंने अपने राजकुमार के बलि चढ़ाने की प्रतिज्ञा अभी तक पूरी नहीं की। इस पर शीघ्र ही प्रतिज्ञापालन का वचन देते हुए हरिश्चंद्र वहाँ से लौट पड़ते हैं। द्वितीय दृश्य वन-प्रांत का है, जिसमें घूमता-फिरता राजकुमार रोहित अपने मन में विचार करता है कि पिता की ओर से मिली मरने की निरर्थक आज्ञा कहाँ तक मान्य हो सकती है। इसी प्रकार जीवन-संबन्धी अनेक तर्क-वितर्क के उपरांत वह निश्चय करता है कि राजधानी से भागकर अनंत प्रकृति के किसी छोर पर चला जाय। प्रकृति भी नेपथ्य से उसके इस निश्चय का समर्थन करती है। तृतीय दृश्य में ऋषि अजीगर्त अपनी दरिद्रता तथा दैन्य पर दुःख प्रकट कर रहे हैं। उसी समय रोहित उनके संमुख प्रकट होता है। वह अजीगर्त से निवेदन करता है कि यदि आप अपना एक पुत्र मुझे नरमेध के लिए सौंप दें तो मैं आपको बदले में सौ गौएँ दूँ। अन्त में ऋषि अपने सँझले पुत्र शुनःशेप को दे देते हैं। चतुर्थ दृश्य में पहले तो राजकुमार रोहित और महाराज हरिश्चंद्र में वाद-विवाद चलता है; परंतु वशिष्ठ जी आकर राजकुमार के भागने का समर्थन करते हैं और यज्ञ आयोजन का आदेश देते हैं, जिसमें शुनःशेप की बलि दी जाने को है। अंतिम दृश्य में महाराज हरिश्चंद्र और रोहित उपस्थित हैं; होता-रूप में महर्षि वशिष्ठ बैठे हैं; शुनःशेप यूप से बँधा है और शक्ति उसका वध करने के लिए बढ़ता है; परन्तु करुणा से विचलित होकर रुक जाता है। इस पर स्वयं अजीगर्त इस क्रूर कर्म के लिए उद्यत होते हैं और शुनःशेप प्रार्थना करता है। सहसा आकाश में गर्जन होता है। साथ ही विश्वामित्र अपने पुत्रों के साथ यज्ञ-मंडप में प्रवेश करके बलि को रोकते हैं। उसी समय झपटती हुई एक राजकीय दासी भी वहीं पहुँचती है, जो वस्तुतः विश्वामित्र की पत्नी है। उसी का पुत्र शुनःशेप

था। सब बातें प्रकट होने पर सुव्रता दासीकर्म से मुक्त की जाती है और उस घोर नरबलि का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है। सब ईश्वर की प्रार्थना और उनसे कल्याण-कामना करते हैं। इस प्रकार संसार की मंगल-भावना से यह एकांकी रचना समाप्त होती है।

इस कृति से तत्कालीन देश-काल का यह परिचय मिलता है कि धर्मभावना और प्रतिज्ञापालन में लोग दृढ़ होते थे। उस समय यज्ञों में नरबलि तक विहित थी। धर्म-शासन में भी कहीं-कहीं दरिद्रता का आधिपत्य ऐसा प्रबल हो जाता था कि पुत्रों को बेचकर जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त सिद्धांत की बातें भी प्रकट होती हैं। जहाँ एक ओर शुनःशेप ऐसा पितृ-भक्त आँख बंद करके अपने माता-पिता की आज्ञा के पालन में ही अपने जीवन का उत्सर्ग करने को संनद्ध दिखाई पड़ता है वहीं दूसरी ओर रोहित-सा राजकुमार पितृ-आज्ञा के औचित्य पर तर्क-वितर्क करके अपना स्वतंत्र मत स्थापित करता और उसी के अनुसार आचरण करता मिलता है। इन बातों से चरित्र-विषयक विशेषताएँ भी यथाक्रम लक्षित हुई हैं। एक प्रकार से इस रचना में नाटकीय अंश की न्यूनता और कहानी-तत्त्व की ही प्रधानता है। इसे कथोपकथन के द्वारा पद्य में लिखी हुई कहानी ही समझना चाहिए।

राज्यश्री

आरम्भकाल

एकांकी रूपकों में छोटे-छोटे घटना-क्रमों को लेकर लेखक ने अभ्यास आरम्भ किया था। उनमें उसने दो भिन्न-भिन्न रचना-पद्धतियों का प्रयोग कर देखा और कुछ मत स्थिर किए। अब वह समय आया कि वह उन स्थिर विचारों का प्रयोग अधिक व्यापक घटनाओं को लेकर करे। इस अभिप्राय से इस काल में दो नाटक लिखे गए 'राज्यश्री' एवं 'विशाख'। इन दोनों के रूप-रंग तथा आकार-प्रकार में समानता है। घटना-क्रम के विकास एवं संघटन, चरित्रांकन की प्रभावोत्पादकता इत्यादि की दृष्टि से भी दोनों में एकरूपता है। यह बात दूसरी है कि सूक्ष्म विवेचन करने पर दोनों में स्पष्ट अन्तर भी दिखाई पड़ता है। पुस्तक के रूप में दोनों के दो-दो संस्करण हो चुके हैं। 'विशाख' के द्वितीय संस्करण में तो कोई ऐसा विशेष परिवर्तन नहीं मिलता परन्तु 'राज्यश्री' के दोनों संस्करणों में आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई देता है। प्रथम संस्करण का रूप देखकर तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' का ही लेखक बढ़कर इस रूप में दिखाई पड़ रहा है, परन्तु द्वितीय आवृत्ति में प्रौढ़ 'प्रसाद' की पूरी झलक दिखाई पड़ती है। लेखक के रचना-कौशल के क्रमिक विकास का यदि अध्ययन करना अभिप्रेत है तो प्रथम संस्करण ही विशेष महत्त्व का प्रमाणित होगा; क्योंकि उस संस्करण में लक्षित होनेवाली उसकी दुर्बलताओं में उसके रचना-कौशल का प्रकृत रूप दिखाई पड़ता है।

इतिहास

थानेश्वर के अधिपति परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के उपरांत उनका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन सिंहासन पर बैठा। उसी समय दूसरी ओर उसकी बहन राज्यश्री पर आपत्ति आई। राज्यश्री के पति कान्यकुब्जाधीश मौखरी ग्रहवर्मा की हत्या करके मालव के शासक देवगुप्त[1] ने उसको बंदी बनाया। उसके पैरों में बेड़ी डाल दी

१ राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः।
कृत्वा तेन कशाप्रहारविमुखाः सर्वे समं संयताः॥
—Epigraphica Indica I. p. 72, 74 and IV. p. 210.

गई[1]। यह सूचना मिलते ही अपने भाई हर्षवर्धन[2] को अन्य राजाओं और हस्तिसेना के साथ सम्भवतः इसलिए पीछे छोड़कर कि आवश्यकता होने पर हूण-विद्रोह का सामना करे, राज्यवर्धन स्वयं अपनी बहन की सहायता करने गया। अपने सेनापति भंडि[3] को आज्ञा दी कि सहस्र अश्वारोहियों के साथ उसके पीछे-पीछे आए।

राज्यवर्धन ने बड़ी सरलता से मालव-सेना का विध्वंस कर दिया; परंतु स्वयं एक कुचक्र में पड़ गया। अधीनता और मैत्री स्थापित करने का विचार प्रकट करते हुए गौड़ाधिप शशांक (नरेंद्रगुप्त[4]) ने अपनी पुत्री का विवाह राज्यवर्धन से करने का मंतव्य प्रगट किया। ऐसा प्रलोभन देकर वह राज्यवर्धन से एकांत में मिला और उसकी हत्या कर दी[5]। इस प्रकार मौखरी और वर्धन-वंशों पर दुःख का पहाड़ ही

---

१ हर्षचरित *Cowell* और *Thomas* का अँगरेजी-अनुवाद, सन् १८९७ ई०, पृष्ठ १७३।

२ 'हर्ष' नाम का उल्लेख शिलालेख और मधुवन एवं बाँसखेरा ताम्र-पत्रों में हुआ है। अपशाद के शिलालेख और हर्षचरित में 'हर्षदेव' लिखा मिलता है। सोनपत की ताम्र-मुद्रा में पूरा नाम हर्षवर्धन प्राप्त होता है। *History of Kanauj* by R.S. Tripathi, P.61, फुटनोट।

३ भंडि महारानी यशोमति (प्रभाकरवर्धन की पत्नी) के भाई का पुत्र था। उसने राजकुमारों के साथ ही शिक्षा पाई थी। वह अवस्था में राज्यवर्धन और हर्षवर्धन से कुछ बड़ा था।

(i) *History of Kanauj* p. 64 फुटनोट।

(ii) *The Early History of India* by Vincent A. Smith, p. 350

४ (i) चीनी यात्री हुनत्सांग ने इसे शशांक लिखा है— Walters I, p. 343.

(ii) हर्षचरित की केवल एक प्रति में इसका नाम नरेंद्रगुप्त लिखा मिलता है। *Epigraphica Indica* I.p, 70.

५ तस्मात् च हेला निर्जितमालवानीकमपि गौडाधिपेन मिथ्योपचारोपचितविश्वासं मुक्तशस्त्रं एकाकिनं विश्रब्धं स्वभवन एव भ्रातरं व्यापादितमश्रौषीत्।—हर्षचरित, कलकत्ता-संस्करण, पृष्ठ ४३६।

टूट पड़ा। कन्नौज पर शशांक का अधिकार हो गया। इसके साथ ही अपने प्रतिपक्षी सेनापति भंडि का ध्यान परिवर्तित करने के अभिप्राय से शशांक ने विधवा राज्यश्री को नगर के कारागार से मुक्त कर दिया[१]। अपने भाई की हत्या का समाचार पाते ही हर्षवर्धन ने शासन भार अपने ऊपर लिया। इस समय उसके संमुख दो समस्याएँ थीं, अपने भाई के हत्यारे को दंड देना और विधवा बहन की खोज करना। अतएव वह विशाल वाहिनी साथ लेकर चल पड़ा। मार्ग में उसे सेनापति भंडि मिल गया। भंडि ने उसे सूचना दी कि राज्यश्री कारावास से मुक्त होकर विंध्य पर्वत की ओर चली गई है। इस समाचार को पाकर हर्ष बड़ा दुखी हुआ। नरेंद्रगुप्त से युद्ध करने की बात उसने स्थगित कर दी। अपनी संपूर्ण सेना को गंगाकूल पर रुकने का आदेश देकर उसने कुछ साथियों को साथ लिया और शीघ्रता से राज्यश्री की खोज में तत्पर हो गया। विंध्य-वन के गंभीरतल में प्रवेश करते ही संयोग से उसकी भेंट स्वर्गीय ग्रहवर्मा के बाल-सहचर बौद्ध साधक दिवाकरमित्र से हो गई। इसी बौद्ध मित्र की सहायता से राज्यश्री मिली।

जिस समय हर्ष राज्यश्री के समीप पहुँचा उस समय वह चिता जलाकर उसमें कूदने जा रही थी। हर्ष ने इस अनर्थ को रोका और उससे तुरंत लौटने का प्रस्ताव किया। राज्यश्री अपने असामयिक दुःख की विषमता से इतनी त्रस्त थी कि उसने काषाय लेने का अपना मंतव्य प्रकट किया। इस पर हर्षवर्धन ने उसे आश्वासन देते हुए वचन दिया कि अपने कार्य व्यापारों को पूर्णतया संपादित कर लेने पर हम दोनों साथ ही काषाय धारण करेंगे[२]। इसके उपरांत जब राज्यश्री को साथ लेकर हर्ष लौटा तब तक नरेंद्रगुप्त कन्नौज छोड़कर भाग चुका था। कन्नौज में आकर कुछ दिनों तक तो हर्ष अपनी बहन के साथ[३] शासन की व्यवस्था करता रहा; परंतु कालांतर में थानेश्वर और कन्नौज दोनों का अधिपति बन बैठा।

राज्यश्री असाधारण योग्यता की महिला थी। बौद्धों की समितिया

---

१ History of Kanauj, p. 67.

२ हर्षचरित्र, C. T, पृष्ठ २५८।

३ The Early History of India by V.A. Smith. 4th, ed.p.351.

संप्रदाय के सिद्धांतों की पंडिता थी। उसका उद्धार करने के उपरांत हर्षवर्धन संपूर्ण भारतवर्ष को अपने एकछत्र शासन में लेने की चेष्टा में लगा। अपनी सुदृढ़ सेना की सहायता से उसने पाँच ही वर्षों में सारे उत्तरी भारत को अपने राज्य के अंतर्गत कर लिया; परंतु एक ओर उसे अपनी हार स्वीकार करनी ही पड़ी। दक्षिण में चालुक्य-वंशीय पुलकेशिन् द्वितीय का साम्राज्य फैला था। हर्ष ने जब उस ओर चढ़ाई की तब पुलकेशिन् ने अपने संपूर्ण शक्ति-बल से नर्मदा के भागों का ऐसा सुदृढ़ प्रतिरोध किया कि हर्ष की सेना को किसी प्रकार प्रवेश न मिल सका और वह विवश होकर पराजय लेकर लौटा। इसके उपरांत उसने नर्मदा ही को अपने साम्राज्य की सीमा मान ली[१]।

हर्ष के शासन-विधान की बड़ी प्रशंसा वर्णित है। उस काल में शिक्षा और कलाकौशल की वृद्धि थी। न्याय और प्रांतीय शासन की व्यवस्था ठीक थी। यों तो विकट अपराध होते नहीं दिखाई देते थे; परंतु स्थल और जल मार्ग की सुरक्षा नहीं थी। कई बार चीनी यात्री हूनत्संग को चोरों और लुटेरों ने घेरा और पकड़ा था[२]। साथ ही धार्मिक स्थिति भी विरोधमयी थी। राजपक्ष से तो पर्याप्त उदारता दिखाई जाती थी; परंतु समय-समय पर बौद्ध और वैदिक धर्मानुयायियों में संघर्ष चलता ही रहता था। कभी कभी यह संघर्ष हिंसात्मक हो उठता था। इसी विरोध के परिणाम-स्वरूप एक बार चीनी यात्री के जीवन की आशंका हो उठी थी और उपद्रवियों के कारण हर्ष को कड़े आदेश घोषित करने पड़े थे[३]।

हर्ष के शासन काल में कन्नौज की धर्म-सभा का उल्लेख आवश्यक है। जिस समय विजय के संबंध में हर्ष बंगाल में था उस समय हूनत्संग से वहीं मिला और आग्रहपूर्वक उसे कन्नौज ले आया। यहाँ आने पर उसने एक महती धर्मसभा का आयोजन किया। इस सभा में विभिन्न देशों के नरेशों के अतिरिक्त सहस्रों बौद्ध, जैन और कट्टर

---

१ The Early History of India by V. A Smith, 4th,ed, p 352-4

२ (i) वही, पृष्ठ ३५५।

(ii) History of Kanauj by Dr. R. S. Tripathi, p. 145.

३ (i) The Early History of India, by V. A. Smith, p. 361.

(ii) History of Kanauj by Dr. R. S. Tripathi, p. 154.

ब्राह्मण भी योग देने आए। बड़े समारोह के साथ सफलतापूर्वक कार्य समाप्त होने ही को था कि एक आश्चर्यजनक घटना हो गई। इसी कार्य के लिए बनाए गए प्रमुख विहार में सहसा आग लग गई और उसका अधिकांश भाग नष्ट हो गया। जिस समय सम्राट् इसकी देख-भाल के लिए नीचे उतर रहा था, उसी समय छुरा लेकर उसकी हत्या करने के लिए एक व्यक्ति ने उस पर आक्रमण किया; परंतु वह अपराधी पकड़ लिया गया। पीछे उसने स्वीकार किया कि मैं कुछ ऐसे लोगों की प्रेरणा से इस कार्य में तत्पर हुआ था जो बौद्ध-धर्म के इस संमान-विस्तार से क्रुद्ध थे[1]।

उस काल की द्वितीय उल्लेखनीय विभूति थी प्रयाग का महादान महोत्सव—महामोक्ष परिषद्। प्रत्येक पाँच वर्षों के उपरांत यह महोत्सव मनाया जाता था। इसमें लाखों बौद्ध, जैन, धर्मसुधारक, ब्राह्मण, दरिद्र और अनाथ एकत्र होकर दान ग्रहण करते थे और उत्सव में संपूर्ण राजवर्ग उपस्थित रहता था। सैकड़ों स्थान ऐसे बनवाए जाते थे जहाँ दान की वस्तुएँ (रत्नवस्त्रादि) भरी रहती थीं। पहले दिन बुद्ध, दूसरे दिन आदित्यदेव और तीसरे दिन ईश्वरदेव (शिव) की महान् पूजा होती थी। इसके उपरांत महादान आरंभ होता था, जो भिन्न-भिन्न वर्गवालों को क्रम से महीनों तक वितरित होता रहता था। चुने हुए लोगों में से एक-एक को शत सुवर्णखंड, एक मोती, सूती वस्त्र और साथ में विभिन्न प्रकार के पेय, मांस, पुष्प तथा सुगंधित द्रव्य दिए जाते थे। इसके उपरांत अनेक नरेशों से मिली उपहार की वस्तुओं तक को सम्राट् बाँट देता था। जिस वर्ष हर्ष अपने साथ चीनी यात्री को ले गया था उस वर्ष तो अंत में स्थिति यहाँ तक बढ़ी कि उसने अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना आभूषण माँगकर धारण किया और तब बुद्ध की पूजा में योग दे सका[2]।

---

१ (i) The Early History of India by V. A. Smith, p. 362-3.

(ii) History of Kanauj by Dr. R. S. Tripathi. P. 155.

२ (i) The Early History of India by V. A. Smith, P. 363 5.

(ii) History of Kanauj by Dr. R. S, Tripathi, P. 157-61.

(iii) Life of Yuan Chwang (Samuel Beal), P. 187.

राज्यश्री

इस नाटक में प्रधान व्यक्ति राज्यश्री है। इसको समस्त घटनाचक्र का केंद्र कहना चाहिए। ग्रंथ में जिस व्यापक विप्लवों का उल्लेख है उन सबके मूल में यही राज्यश्री है। सब की दृष्टि उसी ओर है। वही एक रूप शिखा है जिस पर सभी पतंग गिरकर भस्मसात् होते हैं। सभी घटनाएँ उसी पर आश्रित हैं। ग्रहवर्मा उसी के लिए कहता है—

सब से यह आनंद बड़ा है प्रियतमे,
तुम-सा निर्मल कुसुम भी मिला है हमें।

उसी सौंदर्य-राशि को देखकर मालवराज देवगुप्त भी आकर्षित हुआ है। उसकी दृष्टि में राज्यश्री वास्तव में 'विश्व-राज्यश्री' है। मालव राज के संमुख केवल एक ही प्रश्न है—'क्या वह मुझे न मिलेगी ?' इस प्रश्न का उत्तर भी उसे तुरंत मिलता है। मृगतृष्णा तुरंत उत्तर-रूप में कहती है—'अवश्य मिलेगी'। इसी मृगतृष्णा के पीछे पड़ा वह अनेक अनर्थ करता है तथा इसको समय-समय पर स्वतः स्वीकार करता है—'राज्यश्री ! राज्यश्री !! यह सब देवगुप्त तेरे लिए कर रहा है'। उद्देश्य-सिद्धि के मार्ग में जो बाधाएँ पड़ती हैं उनका सामना वह छल-कपट से अपनी शक्ति भर करता जाता है। वह निश्चयपूर्वक समझ चुका है कि मुझे इष्ट-प्राप्ति उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कान्यकुब्जाधिपति जीवित रहेंगे। यही कारण है कि अपनी सारी शक्तियों को वह उसी ओर प्रेरित करता है और अन्त में उसे इस कार्य में सफलता मिलती है। उसने राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा को छल से मार डाला और कन्नौज ले लिया। अंत में चलकर उसके दुराग्रह, पाशविक कर्म एवं रण-दौर्मद का परिणाम अनुकूल नहीं प्रमाणित होता। सत् और असत् का युद्ध अधिक समय नहीं चलता। संभव है कि असत् अपना उग्र रूप दिखा कर कुछ क्षणों के लिए संसार को भले ही भयभीत कर दे, परंतु कालांतर में उसका पतन और विनाश अवश्यंभावी है। यही अवस्था असत्-पक्ष लेकर चलनेवाले मालवराज की भी हुई है। इसी मोह-माया में पड़ा हुआ वह अंत में राज्यवर्धन द्वारा बंदी बनाया जाता है और उसकी अभीप्सा तथा उसके प्रयत्न आदि सभी नष्ट हो जाते हैं।

यही स्थिति हमें भिक्षु विकटघोष की भी दिखाई देती है। वह

भी उसी प्रकार के रोग से ग्रस्त है। राज्यश्री के रूप की ज्वाला और आलोकमय रमणीयता ने उस दीन भिक्षु को भयानक डाकू बना डाला है। ग्रहवर्मा की मृत्यु के पश्चात् वह विचार करता है—'हाय! राज्यश्री! तेरे रूप की ज्वाला अभी तक मेरे हृदय को जला रही है। संसार का कर्मक्षेत्र मुझे न दिखाई पड़ता यदि तेरा आलोकमय रूप नेत्रों के सामने न आता। तुम्हीं तो इस दीन भिक्षु को भयानक डाकू बना देने की कारण हो। इस समय भी हम राज्यश्री को न प्राप्त कर सके तो व्यर्थ ही लुटेरा बनने का पाप सर पर लिया।' इसी इष्टसाधन के विचार से वह राज्यवर्धन की सेना में भरती होता है। उसने निश्चय कर लिया है कि इस प्रकार से उसे अपनी अभिलाषा पूर्ण करने में सरलता होगी। जिस समय देवगुप्त और राज्यवर्धन में युद्ध होता है उसी समय वह कारावास में पहुँचता है और बंदिनी राज्यश्री को बंधनमुक्त करता है। अपने को राज्यवर्धन द्वारा भेजा हुआ दूत बताकर उसका विश्वास-पात्र बनता है। आपदाओं से त्रस्त राज्यश्री को अपना-पराया कुछ नहीं सूझता और वह उसके साथ निर्जन वन की ओर भागती है। यहाँ पहुँचकर विकटघोष अपना कुत्सित मंतव्य प्रकट करता है जिस पर कातर होकर राज्यश्री अनेक कारुणिक शब्द कहती है। उसके आर्त शब्दों को उसी स्थान पर खड़ा परिव्राजक महात्मा दिवाकरमित्र सुनता है और अबला की मर्यादा-रक्षा में प्रवृत्त होता है। उसके सत् उपदेशों को सुनकर पापी विकटघोष की सोई हुई चेतना जागरित होती है और वह अपनी पाप-वासना के लिए प्रायश्चित्त करना स्वीकार करता है।

कथानक

यह प्रथम अवसर है जब लेखक को विस्तृत घटना-क्रम लेकर निश्चित सिद्धांतों पर संघटित करना पड़ता है। इसके पूर्व के एकांकी रूपकों में घटनाओं के विकास-क्रम का तर्क-संगत निर्वाह नहीं करना पड़ा था। उनमें केवल स्फुट रूप में कुछ दृश्यों का विवरण मात्र दिया गया था। इस नाटक में राज्यश्री के जीवन का बड़ा अंश लिया गया है। यह अंश घटनाओं से पूर्ण है और एक-एक घटना महत्त्वपूर्ण है। लेखक के लिए घटना-क्रम के ऐसे व्यापक क्षेत्र की व्यवस्था करने का यह प्रथम अवसर है। इस आरंभिक काल में वस्तुविन्यास की कितनी शक्ति लेखक में मिलती है इसका विचार आवश्यक है।

राज्यश्री के प्रथम संस्करण में तीन अंक हैं, जो मार्मिक स्थलों पर समाप्त होते हैं। प्रत्येक अंक की अपनी विशेषता है। वृद्धि-क्रम की दृष्टि से भी घटनाओं का विभाजन अच्छा हुआ है। प्रथम अंक में मौखरी ग्रहवर्मा और मालवराज देवगुप्त का विरोध है। राज्यश्री को प्राप्त करने के विचार से देवगुप्त अनेक प्रकार की चेष्टाएं करता है और अंत में ग्रहवर्मा को मारकर उसे बंदिनी बना लेता है। यहाँ पर प्रथम अंक समाप्त होता है। दूसरे अंक में इसी घटना के प्रतिकार का रूप दिखाया जाता है। मालवराज की उच्छृङ्खलता के कारण उत्तेजित होकर कर्तव्यशील स्थाण्वीश्वर सम्राट् राज्यवर्धन उसका विरोध करता है। इस विरोध का फल यह होता है कि दोनों में युद्ध होता है, देवगुप्त बंदी बनाया जाता है और उसकी दुष्टताओं का अंत होता है। तृतीय अंक का भी अधिक अंश विरोध में ही समाप्त होता है। राज्यवर्धन की हत्या का कारण नरेंद्र ही है ऐसा निश्चय हो जाने पर राज्यवर्धन के सैनिक स्कंदगुप्त ने उसकी भी हत्या कर डाली। दूसरी ओर हर्षवर्धन अन्य प्रांतों पर विजय प्राप्त करता हुआ आकर अपनी बहन राज्यश्री से बौद्ध-संघ में मिलता है; उससे निवेदन करता है कि भिक्षुणी का बाना छोड़कर वह पुनः राजरानी बने। राज्यश्री इसका विरोध करती है। इसी स्थल पर नाटक की समाप्ति होती है। नाटक का आरंभ विरोध से हुआ और अंत तक विरोध ही विरोध चलता रहा। विरोध ही इस रूपक का व्यापक भाव है।

राज्यश्री के इस संस्करण में प्राचीन रीति के अनुसार नांदी-पाठ है। अंत में प्रशस्ति-वाक्य भी है। यों तो नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ग्रहवर्मा की बातचीत में पद्यात्मक कथोपकथन की वही परिपाटी प्राप्त होती है जो 'सज्जन' में दिखाई पड़ती है; परंतु ऐसा केवल यही एक स्थल है। अन्य स्थानों पर इसका संकोच ही दिखाई पड़ता है। इन पद्यात्मक अंशों की भाषा पूर्वकाल के अनुसार ब्रज नहीं वरन् शुद्ध खड़ी बोली है। पद्य एवं गद्य दोनों की अभिव्यंजना शैली व्यावहारिक और सीधी-सादी है। कथन की उस शैली के केवल सूक्ष्म छींटे यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं जो शैली आगे चलकर प्रौढ़काल में विकसित हुई है। नाटक के इस संस्करण को विचारपूर्वक देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अभी लेखक में रचना-कौशल के विचार से बड़ी कमी है।

वह व्यापक घटना-क्षेत्र के संघटन तथा शासन में असफल दिखाई पड़ता है। समस्त नाटकीय व्यापार में आपत्तियों की एक आँधी-सी चलती है। इस आँधी में लेखक की अप्रौढ़ रचना-चातुरी अपने बल पर नहीं खड़ी रहती। उसने शीघ्रता में समस्त घटनावली को क्रम से तीन भागों में विभक्त कर तीन अंकों में स्थित कर दिया है। इसके उपरांत उन मार्मिक स्थलों तक चढ़ने के लिए साधारण, अनगढ़, बेमेल दृश्यों की कृत्रिम सीढ़ियाँ बना ली गई हैं। ये दृश्य छोटे-छोटे, कहीं तो एक ही पृष्ठ के हैं। दो-तीन मिलकर इस योग्य होते हैं कि घटना के प्रवाह को आगे बढ़ावें। इस काल की रचना-चातुरी में इस प्रकार की दुर्बलताएँ और भयाकुल स्वभाव नितांत प्रकृत ज्ञात होता है।

राज्यश्री का चरित्र

राज्यश्री नाटक घटना-प्रधान है। यही कारण है कि इसमें चरित्र-गत विशेषताएँ नहीं मिलतीं। क्रिया का वेग इतना अधिक है कि पात्रों के अंतर्जगत् तक पहुँचने और उनकी आंतरिक वृत्तियों के समझने का समय ही नहीं मिल पाता। भयंकर झंझावात से जैसे वृक्षावली त्रस्त दिखाई पड़ती है उसी प्रकार घटनाओं की आँधी में पात्रों का व्यक्तित्व उड़ता फिरता है। पात्रों के शील वैचित्र्य को पूर्णतया स्फुट बनाने के लिए स्थितियों में जिस उतार-चढ़ाव की आवश्यकता होती है उसका इस रूपक में प्रायः अभाव-सा है। केवल राज्यश्री की चरित्र संबंधी विशेषताओं का उल्लेख एक क्रम से हुआ है, अन्यथा अन्य पात्रों के चरित्र की यदा-कदा झलक भर मिलती है। राज्यश्री को हम तीन अवस्थाओं में देखते हैं; परंतु किसी अवस्था में उसके चरित्र एवं स्वभाव का संतोषप्रद ज्ञान नहीं होता। प्रथम अवस्था उसके दांपत्य-जीवन से संबंध रखती है। उसमें वह पतिपरायणा, स्नेह-शीला और विचारवती पत्नी के रूप में दिखाई पड़ती है। भावी आशंकाओं के कारण पति को उद्विग्न देखकर प्रबोध देती और उसकी भा[illegible] को निर्मूल प्रमाणित करने की सतर्क चेष्टा करती है; परंतु विवाद में असफल होकर स्त्री-सुलभ शालीनता का आश्रय ग्रहण कर लेती है और अंत में स्पष्ट रूप से स्वीकार करती है—'प्रभो! फिर आत्मबल कोई वस्तु नहीं है। मैं आप से विवाद नहीं करना चाहती। पर यह मेरा निवेदन है कि आप अपने हृदय को प्रसन्न कीजिये'। आगे

चलकर पति की इच्छा में ही संतोष मानकर कहती है—'जैसी प्रभु की इच्छा'। पति की अनुपस्थिति में प्रतिक्षण उसी की ओर ध्यान लगाए रहती है! पूजा-पाठ और अर्चना-वंदना के समय भी उस ध्यान में बाधा नहीं पड़ती। इसी अवस्था में उसका एक स्वरूप और भी दिखाई देता है। उस स्वरूप में धर्म-भाव से उद्दीप्त उत्साह, त्याग एवं युद्ध के प्रति निर्भयता का स्वाभाविक संमिश्रण प्राप्त होता है। जिस प्रिय पति में उसका इतना अनुराग है कि आँख की ओट होते ही संदेश के लिए उत्कंठित हो उठती है उसी के विरुद्ध युद्ध की आशंका का समाचार सुनकर तनिक भी विचलित नहीं होती। उस समय उसमें भारतीय वीर-ललनाओं के समान क्षात्रतेज उत्पन्न हो जाता है। वह सच्ची क्षत्राणी है। क्षत्राणियाँ अपने वीर पतियों को युद्ध में सम्मिलित होने के लिए उदारता-पूर्वक उत्साहित करती हैं। राज्यश्री भी उन्हीं की भाँति राज्य की मंगल-भावना से प्रेरित होकर अपने प्रेम और सुख का बलिदान करती है। युद्ध की आशंका का समाचार पढ़कर वह प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत करती है। दूत को कहने में संकोच करते देखकर कहने के लिए बाध्य करती है और उत्तर पाकर कहती है—'दूत! इसी को कहने में तुम विलंब करते थे। क्षत्राणी के लिए इससे बढ़कर शुभ समाचार और क्या होगा कि उसका पति युद्ध के लिए संनद्ध हो रहा है।

राज्यश्री के चरित्र की दूसरी अवस्था उस समय प्रारंभ होती है जब वह मंदिर में पूजन के उपरांत अपने प्राणनाथ की विजय-कामना करती है और वहाँ अट्टहास होता है। उस अट्टहास के साथ ही भय एवं भावी अनिष्ट की आशंका के कारण वह मूर्छित हो जाती है। इस घटना के अनंतर वह कुछ काल तक विक्षिप्त रहती है। उसके स्त्री-सुलभ कोमल और भावुक हृदय में भय तो पैठ जाता है; पर इस अवस्था में भी उसका पति-प्रेम अक्षुण्ण दिखाई पड़ता है। अचेतन अवस्था में भी जब वह प्रलाप करती है तो महामंगल से अपने प्राण-नाथ की जय चाहती है। उसके हृदय-पटल पर पति की जिस मंगल-कामना ने घर कर लिया है उसे मूर्छा भी दूर नहीं कर सकती। इसी अवस्था में आगे चलकर उसके दुर्ग पर देवगुप्त आक्रमण करता है। शत्रु दुर्ग में घुस आए। इसकी सूचना पाते ही उस विक्षिप्तावस्था में भी

उसमें अपूर्व वीर भावना जागरित होती है। मंत्री की तलवार ले लेती है और जब विजयी सैनिकों को साथ लिए देवगुप्त संमुख आता है तब वह वीर क्षत्राणी निर्भय होकर उस पर खड्ग चलाती है। ऐसी दयनीय तथा कारुणिक अवस्था में उसका कर्तव्य-ज्ञान विशेष प्रभावोत्पादक ज्ञात होता है।

तीसरी अवस्था में राज्यश्री उस समय दिखाई पड़ती है जब विक्षिप्ति समाप्त होती है और वह पुनः सज्ञान हो जाती है। विक्षिप्ति दूर होते ही उसे अपनी यथार्थ स्थिति का बोध होता है। बंदीगृह में पड़ी-पड़ी जब वह विकटघोष के द्वारा राज्यवर्धन का संदेश पाती है उस समय संसार के व्यावहारिक ज्ञान से शून्य सरल स्वभाव की साधारण बालिका के समान उस संदेश पर विश्वास कर लेती है और विकटघोष के द्वारा बंदीगृह से मुक्त होकर उसी के साथ भागती है। उस समय उसके हृदय में भ्रातृ-स्नेह उमड़ उठता है। आगे चलकर जब उसे यह ज्ञात होता है कि विकटघोष ने दुर्भावना से प्रेरित होकर उसे छुड़ाया है तो उसके दुःखित हृदय को एक और ठेस लगती है जिससे उसके अंतस्तल में सोया निर्वेद उत्पन्न होता है। बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र को संमुख देखते ही उसको अपनी आपद अवस्था से मुक्त होने का स्वरूप समझ में आ जाता है। उसी भिक्षु की सहायता से मुक्ति पाकर उसी दिन वह बौद्ध-संघ में चली जाती है। संघ के जीवन से संतुष्ट हो संसार के प्रति वह विरक्ति ग्रहण करती है। जिस समय उसका भाई हर्षवर्धन उस संघ में आता है और उससे भिक्षुणीरूप के त्याग न करने के लिए निवेदन करता है उस समय वह कहती है—'फिर अब किस सुख की आशा पर राजरानी का वेश इस क्षणिक संसार में धारण करूँ' और विश्वबन्धुत्व के भाव से प्रेरित होकर वह इच्छा करती है कि समस्त उत्तरापथ को विजित कर सम्राट् हर्ष ने जो धन ऐश्वर्य एकत्र किया है वह सब भूखों और कंगालों को बाँट दिया जाय। हर्षवर्धन तुरंत इस इच्छा की पूर्ति करता है। इस स्थल पर पहुँचकर वह संसार की मंगल-कामना में प्रवृत्त दिखाई देती है।

राज्यश्री का नवीन संस्करण

'राज्यश्री' के परिवर्तित और परिवर्धित रूप को देखकर यह कहा जा सकता है कि इसका प्रथम संस्करण बाल-रचना थी। यों तो

लेखक स्वयं स्वीकार करता है कि 'उस समय यह अपूर्ण सा था, परंतु यह केवल अपूर्ण ही न था, इस अपूर्णता के कारण उसमें नीरसता और सूखापन, कथोपकथन की निर्बलता, कथानक-सौष्ठव का अभाव और चरित्रों का अविकसित रूप भी दिखाई पड़ता है। प्रथम संस्करण की न्यूनताओं एवं दुर्बलताओं को लेखक ने स्वयं समझ लिया—यह स्पष्ट ज्ञात होता है, क्योंकि उसने द्वितीय संस्करण में उनका पूर्ण संशोधन किया है। नाटक का ढाँचा तो उसी प्रकार का बना रहता है, घटना-क्रम के मूल में वस्तुतः कोई उलट-फेर नहीं किया गया; परंतु उस अपूर्णता और नीरसता के हटाने की चेष्टा अनेक प्रकार से की गई दिखाई देती है। कथानक के विभाजन का क्रम इसमें भी पूर्ववत् ही है। अंत में एक अंक और बढ़ाया गया है। बीच-बीच में अवसर और आवश्यकता के अनुसार कुछ दृश्य भी जोड़े गए हैं। सुएन च्वंग, पुलकेशिन् और सुरमा के योग के कारण वस्तु नवीन सी दिखाई देती है। इसमें प्रथम दो तो इतिहास के प्रसिद्ध व्यक्ति हैं; परंतु तीसरा पात्र कल्पित है। इन नवीन पात्रों के योग से चरित्र के विकास में बड़ी सरलता एवं प्रकृतत्व उत्पन्न हो गया है। प्रथम संस्करण में जो नरेंद्रगुप्त का वध दिखाया गया है और जो इतिहास के विरुद्ध प्रमाणित होता है, उसका परिहार भी इस आवृत्ति में कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस संस्करण के कथोपकथनों के बीच-बीच में जो छूट दिखाई देती है उसकी भी पूर्ति बड़ी कुशलता से कर दी गई है। थोड़े में यों कहा जा सकता है कि 'राज्यश्री' के परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण में नाटककार की रचना-शक्ति का प्रौढ़ रूप दिखाई पड़ता है।

चतुर्थ अंक की असार अतिरिक्तता

कथानक के विभाजन तथा विस्तार में यत्र-तत्र कुछ नव दृश्यों की वृद्धि के अतिरिक्त इस संस्करण में जो चतुर्थ अङ्क का नवीन आयोजन किया गया है, नाटकीय सौंदर्य के विचार से, उसका विशेष महत्त्व नहीं है। इस अंक में तीन प्रसिद्ध बातों का उल्लेख है—हर्षवर्धन के प्राण लेने की चेष्टा, कान्यकुब्ज और प्रयाग के दान महोत्सव का वर्णन तथा सुएन च्वंग का परिचय। हर्षकालीन इतिहास में चीनी यात्री सुएन च्वंग का महत्व अवश्य है और उसके एक डाकू

द्वारा पकड़े जाने का उल्लेख भी मिलता है; परंतु नाटक में घटनाओं का विवरण नहीं, वरन् उन घटनाओं के मूल में मनुष्य की बाह्य एवं आंतरिक वृत्तियों के विश्लेषण और सक्रियता के रूप का स्पष्टीकरण होता है। इस नाटक में राज्यश्री का ही चरित्र प्रधान है और वास्तव में सुएन च्वंग की घटनाओं अथवा उसके मूल में धर्म-समन्वय की भावना का सम्बन्ध राज्यश्री के व्यक्तित्व से नहीं है; अतएव चीनी यात्री के कारण यदि इस अंक का विस्तार हुआ है तो व्यर्थ है। उसके अतिरिक्त अन्य दो बातों के विषय में स्वयं लेखक स्वीकार करता है कि यह सब दान-महोत्सव की प्रेरणा राज्यश्री की थी और हर्ष की हत्या की चेष्टा भी जो विफल हुई उसके भी मूल में राज्यश्री के कोमल स्वभाव की प्रेरणा थी। साथ ही राज्यश्री की देवोपम उदारता का जो पोषण किया गया है—अपने भाई और पति के हत्यारों को जो उसने क्षमा-दान दिया है—वह भी राज्यश्री की समष्टि-हित-साधना अथवा लोकमंगल की भावना का व्यापक स्वरूप मात्र है, जो अनावश्यक एवं गौण विषय है। वास्तव में राज्यश्री की उदार भावना का उच्चतम रूप तृतीय अंक की समाप्ति के साथ ही स्थिर हो जाता है। 'स्त्रियों के पवित्र कर्तव्य को करती हुई इस क्षण-भंगुर संसार से विदाई लूं। सतीधर्म का पालन करूं'—वह ऐसा निश्चय कर लेती है। कर्तव्य, ज्ञान और सद्धर्म की प्रेरणा से वह अपने अंतिम सुख का विधान स्थिर करती है, इस विधान में परिवर्तन हो जाता है। उसका यह रूप देखकर हर्ष कहता है—'आर्ये! मुझे भी काषाय वस्त्र दीजिए'। इतना सुनते ही राज्यश्री के मस्तिष्क में एक प्रकार का झटका लगता है और वह चिता से हट जाती है और कहती है—'ऐसा नहीं होगा, मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी। मेरे अकेले भाई! चलो हम लोग दूसरे के सुख-दुःख में हाथ बटावें। जहाँ तक हो सके लोक-सेवा करके अन्त में काषाय हम दोनों साथ ही लेंगे'। समष्टि के लिए व्यष्टि-भाव का इस प्रकार सर्वथा त्याग ही उसमें देवतुल्य उदारता का आरोप करता है। उसके अन्तिम सुख का त्याग ही उसके चरित्र का उत्कर्ष है। इसके उपरांत प्रेरक भाव के स्पष्टीकरण के विचार से उदाहरण और प्रमाण दे-देकर प्रधान भावना का विस्तार दिखाना निरर्थक-सा प्रतीत होता है। आगे जो कार्य दिखाए गए हैं उनका संकेत मात्र यथेष्ट था।

रचना-पद्धति

नवीन संस्करण में अन्य नवीनताओं के साथ-साथ नांदी-पाठ की अनुपस्थिति भी विचारणीय है। प्रथमावृत्ति में नाटक का आरंभ नांदी-पाठ से होता है और अन्त में एक प्रशस्ति-गान है, परन्तु इसमें गान को तो रहने दिया गया है पर नांदी-पाठ निकाल दिया गया है। इस प्रकार शास्त्रीय पद्धति के निर्वाह की ओर से लेखक की अरुचि दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त जिस समय सुएन च्वंग की बलि दी जाने लगती है और वह प्रार्थना करता है उस समय अकस्मात् आँधी के साथ अंधकार फैलता है। सब चिल्लाने लगते हैं—'दस्युपति! उस भिक्षु को छोड़ दो! उसी के कारण यह विपत्ति है, छोड़ो उसे (प्रार्थना करते हुए सुएन च्वंग को सब धक्का देकर निकाल देते हैं)' इस ढङ्ग की आधिदैविक घटना का विनियोग प्रथम संस्करण में नहीं है, परंतु ऐसा रूप पहले एक बार और दिखाई पड़ चुका है। 'प्रायश्चित्त' के पूरे एक दृश्य में आकाशवाणी ही आकाशवाणी है। अच्छा हुआ लेखक ने यह बुरी लत नहीं पकड़ी। इससे रस परिपाक में बड़ा व्याघात पड़ता है और प्रभावोत्पत्ति में अस्वाभाविकता उत्पन्न होती है। अभिव्यंजना की शैली का स्वरूप भी दोनों आवृत्तियों में भिन्न-भिन्न है। प्रथम संस्करण में विषय का प्रतिपादन तथा इतिवृत्ति के कथन में सीधापन दिखाई देता है। अलंकार-विधान में अधिक काल्पनिकता नहीं है। जहाँ-कहीं कल्पना का प्रयोग हुआ भी है वहाँ वह बड़ा व्यावहारिक है। इस आवृत्ति में यत्र-तत्र अधिक कोमल एवं काव्यात्मक अभिव्यंजना-शैली का स्वरूप बढ़ता दिखाई देता है—'चंद्रिका के मुख पर कुहरे का अवगुंठन नहीं!' 'स्वच्छ अनंत में देवताओं के दीप झलमला रहे हैं'। इस पद्धति की व्यंजना नाटक के इस संस्करण से ही प्राप्त होने लगती है। भविष्य में इस प्रकार के कथन की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गई है; काव्यात्मकता का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता गया।

चरित्र-चित्रण

इस नाटक के प्रथम संस्करण में कथानक के संकोच के साथ-साथ पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी संकोच रह गया था। चरित्र के अविकसित और अस्थिर होने के कारण वे स्थूल यन्त्रों के समान हाथ-पैर

हिलाते दिखाई पड़ते थे। इस आवृत्ति में कथानक के विस्तार के साथ-साथ पात्रों के चरित्र में भी व्यक्तिवैचित्र्य दिखाई पड़ता है। यों तो राज्यश्री को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति का चरित्र-विकास दिखाने का अवसर नहीं मिला; फिर भी उनके जीवन और कार्यों का जितना अंश संमुख आता है उतने ही से उनके चरित्र का स्वरूप लक्षित हो जाता है।

हर्षवर्धन

उत्तरापथेश्वर भारत-सम्राट् हर्षवर्धन प्रथम बार रेवातट की युद्ध-भूमि पर दिखाई पड़ता है। वह वीर चालुक्य से संधि का प्रार्थी है; युद्ध नहीं करेगा—इसलिए नहीं कि उसकी राजवाहिनी पुलकेशिन् के अश्वारोहियों से त्रस्त हो चुकी है अथवा पराजय की कोई संभावना सूचित हो रही है, वरन् इसलिए कि चर द्वारा उसको संदेश मिला है कि उसी विंध्य-पाद में उसकी अनाथा दुखिया बहन राज्यश्री है। राज्यश्री की स्मृति के साथ ही उसकी घोर दयनीय परिस्थितियों का भी उसे स्मरण हो आता है। यह स्मृति करुणाजन्य होने के कारण हर्ष के हृदय को अभिभूत कर लेती है; उसमें दया, करुणा तथा अहिंसा के उन भावों की दृढ़ स्थापना करती है जिनके वशवर्ती होकर उसके जीवन का भविष्य संचालित होता है। उसी भाव की प्रेरणा से वह युद्ध को प्राणनाश का स्वरूप समझने लगता है और उसमें युद्ध के प्रति विरक्ति-भावना जागरित होती है। इस समय तक जो युद्ध उसे करना पड़ा है वह विवश होकर ही; स्वभाव से उसमें रण का प्रेम नहीं है जिससे उत्साहित होकर वह शक्ति-प्रदर्शन तथा उच्छृङ्खल स्वार्थ-लिप्सा के विचार से युद्ध करता है। वह अकारण दूसरों की भूमि हड़पनेवाला दस्यु नहीं है। इस समय उसकी भावुकता इतनी सजग है कि उसमें सारी देव वृत्तियाँ सक्रिय दिखाई पड़ती हैं। कर्तव्य-ज्ञान ने उसमें सन्तोष की वृत्ति उत्पन्न कर दी है। उसी वृत्ति का प्रभाव है कि वह इस प्रकार कहता है—'यदि इतने ही मनुष्यों को मैं सुखी कर सकूँ—राजधर्म का पालन कर सकूँ तो कृत-कृत्य हो जाऊँगा'। वह महावीर और उदार महापुरुष है। अपने विख्यात प्रतिस्पर्धी पुलकेशिन् के वीरोन्माद और उत्साह का आदर करता है।

हर्ष में श्रेष्ठ वृत्तियों के स्फुरण के साथ ही साथ मनुष्योचित

भावुकता एवं फल-प्राप्ति की कामना भी दिखाई देती है। वह प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणियों का संहार—इतना रक्तपात—करता है—किसी अभिप्राय विशेष से। उसके अन्य अनेक कार्य-व्यापार भी किसी कामना से होते हैं—वह दिखा देना चाहता है कि 'कान्यकुब्ज के सिंहासन पर वर्धनवंश की एक बालिका ऊर्जस्वित शासन कर सकती है'। जब मनुष्य की अभिलाषा और आशा के विरुद्ध फल घटित होता है तो उसका सारा उत्साह नष्ट हो जाता है, सक्रियता का सर्वथा अभाव प्रतीत होने लगता है और संसार की असारता सम्मुख खड़ी दिखाई देती है। वह स्वयं स्वीकार करता है—'सब गर्व, सारी वीरता, अनंत विभव, अपार ऐश्वर्य, हृदय की एक चोट से—संसार की एक ठोकर से निस्सार लगने लगा'। जिस राज्यश्री के लिए वह सब कुछ करता है उसी को सती-धर्म-पालन में संनद्ध देखकर—अपनी केंद्रीभूत आशाओं और कामनाओं के स्वरूप को भस्मसात् होते देखकर—उसको इतना क्षोभ और इतनी विरक्ति होती है कि तुरंत दिवाकरमित्र से कहता है कि 'आर्य! मुझे भी काषाय दीजिए'। परंतु 'मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी'—ऐसा वचन-दान राज्यश्री से पाकर वह पुनः लहलहा उठता है। मानव-बुद्धि स्वभावतः स्वार्थमयी और चंचल होती है। अपने को सफल पाकर हर्ष प्रसन्न हो जाता है और पूर्ण उत्साह के साथ पुनः कर्म की ओर प्रवृत्त होता है। वह राज्यश्री से कहता है—'चलो पराक्रम से जो संपत्ति, शस्त्र-बल से जो ऐश्वर्य मैंने छीन लिया है उसे पानेवालों को दे दूँ, हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें'।

एक नहीं अनेक स्थलों पर उसका मनुष्योचित रूप ही दिखाई पड़ता है, उसमें करुणा तथा उदारता का इतना विस्तार अभी नहीं हुआ है कि अपने सगे भाई राज्यवर्धन के हत्यारे को भी क्षमा प्रदान करे। वह स्पष्ट कहता है कि 'मेरा हृदय नहीं क्षमा करेगा, मैं अशक्त हूँ'। इसी प्रकार उस समय भी वह क्रोधयुक्त दिखाई पड़ता है जिस समय महाश्रमण पर भयानक आक्रमण होने का समाचार मिलता है। इस व्यावहारिक जीवन में करुणा और दया का सीमारहित तथा व्यापक प्रसार नीचता का योग पाकर उच्छृङ्खलता एवं प्रमाद का कारण बन जाता है। बुद्धि उसी के नियंत्रण के लिए राजशक्ति तथा दंड-

विधान का आश्रय लेती है। 'धर्म में भी यह उपद्रव' देखकर हर्ष क्षुब्ध हो उठता है। उसे सब स्थानों पर क्षमा की एक सीमा दिखाई देती है। समाज में व्यवस्था और मर्यादा को स्थिर रखने के विचार से उसे यह आवश्यक ज्ञात होता है कि राजशक्ति की कठोरता का भी उपयोग करे। दौवारिक को तुरंत आज्ञा देता है कि 'जाओ डौंड़ी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पड़ेगा'। इस कठोर आज्ञा के भीतर राजशक्ति का मद-प्रदर्शन उतना नहीं है जितनी मर्यादा-रक्षा की भावना। शुद्ध मानव-व्यवहार का आदर्श यही भावना है।

हर्षवर्धन भारत का यशस्वी सम्राट्, उदार, वीर, अहिंसावादी धार्मिक और कर्तव्यशील है। उसके विचार तथा कर्म में सुंदर सामञ्जस्य मिलता है। उसके वध की चेष्टा ही उसके जीवन की अंतिम और महत्त्वपूर्ण घटना है जिसके कारण हर्ष में विरक्ति, त्याग एवं कर्तव्य परायणता नवीन रूप में जागरित हुई है। हत्या की चेष्टा के मूल में उसको धन का लोभ दिखाई देता है। नीचता के उस उच्छृङ्खल रूप को देखकर धन, ऐश्वर्य और शक्ति की ओर से उसे विरक्ति पैदा होती है। उसी विरक्ति से प्रेरित होकर वह सब मणि-रत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतारकर दान कर देता है और काषाय धारण करता है। कारण का स्वयं स्पष्ट उल्लेख करता है—'क्यों, मेरी इसी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न? मैं आज सबसे अलग हो रहा हूँ, यदि कोई शत्रु मेरा प्राण-दान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ'। विरक्ति, त्याग और उदारता का इतना उग्र रूप रहने पर भी राज्यश्री के सेवा-व्रत का स्मरण दिलाते ही उसमें लोक-सेवा का भाव पुनः चेतन हो उठता है और वह सर्व-संमति से प्रेरित होकर मुकुट और राजदंड ग्रहण करता है। इस ग्रहण में भी त्याग की सात्विकता मिश्रित है।

शांतिदेव

ऐहिक सुख से तटस्थ होना ही संन्यास है। जब तक मनुष्य के हृदय में सांसारिक आनन्द के उपभोग की अभिलाषा वर्तमान रहती है, जब तक वह आशा-निराशा, सुख-दुःख, ऐश्वर्य—अभिलाषा इत्यादि के संघर्ष में पड़ा रहता है तब तक अनेक प्रकार के सांसारिक प्रलोभन

एवं आसक्ति का मायाजाल उसे भयभीत करता रहता है। वास्तव में जब तक उसकी वृत्तियाँ संन्यस्त नहीं हो जातीं तब तक संन्यास, प्रव्रज्या, विरक्ति तथा निर्वेद की उपासना निरर्थक है। शान्तिदेव बलात् बौद्ध संघ में भेज दिया गया है। उसमें प्रव्रज्या की योग्यता नहीं है। वह धार्मिक मर्यादा का निर्वाह करने में सर्वथा असमर्थ है। उसमें सांसारिक मोह-माया, आशा-अभिलाषा और महत्त्वाकांक्षा का राक्षस पूर्ण रूप से सक्रिय है। वह अभी भाग्य की परीक्षा लेना चाहता है। सौंदर्य, विभव, शक्ति एवं संमान की कामना उसमें अभी वर्तमान है। असमय की यही प्रव्रज्या साहस तथा विरोध की भावना उत्पन्न करती है। 'संसार उसकी उपेक्षा करता है, उसकी अभिलाषाओं की कलका को कुचल डालना चाहता है,' यह देखकर उसके हृदय में घोर असंतोष उत्पन्न होता है। अपने विषय में वह निश्चय कर लेता है कि उसे केवल अपने 'भाग्य का भरोसा है'।

प्रथम अंक में उसके जीवन का उद्देश्य अनिश्चित रहता है। किसी प्रकार उलटा-सीधा उपदेश देकर सुरमा से पिंड छुड़ाता है। सुरमा में वह अपनी अभिलाषा का केवल एक अंश पाता है, अतएव स्थिर रूप में उसके प्रेम के प्रस्ताव को न तो स्वीकार करता है और न अस्वीकार; यों ही उसे बातों में फँसाए रखना चाहता है—'उतावली न हो सुरमा ! अभिलाषा के लिए इतना चंचल न होना चाहिए'। इस प्रकार का सूखा ज्ञानोपदेश देकर आगे बढ़ता है। अपने भाग्य की परीक्षा लेने के अभिप्राय से राज्यश्री के संमुख याचक रूप में उपस्थित होता है। वहाँ भी अतुल रूपराशि एवं अपरिमित धन-वितरण का विधान देखकर सापेक्ष रूप में केवल अपनी क्षुद्रता का विचार करता है—'विश्व में इतनी विभूति है और मैं अत्यंत ऊँचाई की ओर देखता हुआ केवल उलट जाता हूँ चढ़ने को कौन कहे'। अपनी दरिद्र कल्पना से परे 'इतना सौंदर्य, विभव और शक्ति एकत्र' पाकर वह अवाक् रह जाता है। क्षोभ तथा आत्मश्लाघा उसे दान भी नहीं लेने देती।

असफलता के कठोर आघात से व्यथित होकर वह पुनः सुरमा के उपवन में लौट आता है और विचार करता है—'सुरमा ! जीवन की पहली चिनगारी वह भी किधर बुझ गई। धधक उठी एक ज्वाला

राज्यश्री ! मूर्ख ! निश्चित नहीं कर पाया कि सुरमा या राज्यश्री। उसके जलते हुए ग्रह-पिण्ड के भ्रमण का कौन केंद्र है। उस मूर्ख प्रवंचक को महत्त्वाकांक्षा ने अन्धा बना दिया है। उसकी बुद्धि, विवेक से सर्वथा शून्य है। वह वर्तमान से असंतुष्ट है, परन्तु भविष्य की रूपरेखा के भी निश्चित करने में अशक्त है। अपने भिक्षु-जीवन के विषय में तो निर्णय कर लेता है—'नहीं, संघ मेरे लिए नहीं है'। फिर विचार करता है—'अब यहीं कुटी में रहूँगा, तो क्या मैं तपस्वी होऊँगा। नहीं, अच्छा जो नियति करावे'। इस प्रकार के अस्थिर बुद्धि के मनुष्य का जीवन और भविष्य कितना अंधकारपूर्ण तथा समाज के लिए कितना घातक हो सकता है—इसी का चित्रण विकटघोष के रूप में हुआ।

आकस्मिक रूप में उसकी भेंट दो डाकुओं से हो जाती है। उनको भी अपने ही पथ का पथिक समझ कर विकटघोष उनके साथ हो लेता है और राज्यश्री को उड़ा ले जाने में संनद्ध होता है। अपनी कार्यप्रणाली का भावी क्रम स्थिर कर लेने पर वह अपने साथियों को लिए हुए सेनापति भंडि के समीप आता है और कहता है—'हम लोग साहसिक हैं, परन्तु अब चारित्र्य और वीरतापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। देवगुप्त हमारा चिरशत्रु है, उससे प्रतिशोध लेना हमारा अभीष्ट है'। इस असत्य भाषण के अतिरिक्त वह प्रलोभन भी देता है—'मैं आपका उपकार करूँगा, विजय में उपयोगी सिद्ध हो सकूँगा। मुझे कान्यकुब्ज-दुर्ग के गुप्त-मार्ग विदित हैं, उनके द्वारा सुगमता से आपको विजय मिल सकती है' इस प्रकार अपनी माया एवं प्रवंचना का जाल बिछाता है और पंचनद-गुल्म में संमिलित हो जाता है। समय आने पर कान्यकुब्ज के बंदीगृह में पहुँचता है। उसका अभीष्ट तो था बंदीगृह से राज्यश्री को मुक्त करना; उसे अपने अधिकार में लेकर उड़ जाना, परंतु मार्ग में सुरमा के मिल जाने से उसका विचार उस ओर भी आकृष्ट होता है। सुरमा का स्वरूप और आचरण समझकर वह यह दृढ़ कर लेता है कि उसके साथ जीवन में यदि चल सकती है तो सुरमा ही। यही कारण है कि उस कुसमय में भी वह सुरमा को नहीं छोड़ सकता। वह सुरमा के सम्मुख स्पष्ट स्वीकार करता है कि 'तुम चाहे कितनी भी कुटिलता ग्रहण करो पर मैं तुम्हें......'।

विकटघोष के चरित्र-चित्रण में लेखक अत्यन्त सजग दिखाई देता है। उसने बड़ी मार्मिकता से उसके पतन का चित्र खड़ा किया है। उसके जीवन की गति में किस कारण और किस समय कैसे परिवर्तन उत्पन्न हुए हैं इसका क्रमिक विवरण लेखक ने उपस्थित किया है। प्रत्येक अंक में उसका एक नवीन स्वरूप दिखाई पड़ता है। तृतीय अंक के आरंभ में जब राज्यश्री को उसके दूसरे दस्यु साथी ले भागते हैं तब उसके जीवन का प्रवाह एक बार फिर रुकता है; वह विचार करता है कि 'इस प्रकार चलने में भी असफलता ही हाथ लगी'। इन असफलताओं का सामना करते-करते वह व्यथित हो उठता है। उसने विचार कर रखा था कि राज्यश्री का सुन्दर स्वरूप अपने अधिकार में आ जायगा और उसके कारण अपार विभव प्राप्त होगा; परंतु यह कठोर कामना अपूर्ण ही रह जाती है। हाँ, इस घटना-क्रम से अंधकार में सुरमा की प्राप्ति ने—क्षीण ही सही—एक प्रकाश-रेखा झलका दी। उसने इतने ही को यथेष्ट समझा—वह साहसिक है न! सुरमा के हृदय में जो निर्बल स्त्री-सुलभ आशंका एवं अविश्वास का एक कारण—राज्यश्री—खटकती थी उसके विषय में विकटघोष ने स्पष्ट स्वीकार कर लिया—'पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचार करता था कि किधर बढ़ूँ। रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे अभिभूत तो कर दिया था, किंतु मैं तुम्हें भूला नहीं, सुरमा!'

विकटघोष ने इस प्रकार अपने जीवन की दो आकांक्षाओं—रूप और विभव—में से एक की प्राप्ति स्थिर कर ली। अब दूसरी की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और तुरन्त अपना भावी मार्ग निश्चित कर लेता है। संसार द्वारा सर्वथा उपेक्षित होकर वह अब अपने सुधार से निराश हो चुका है; परन्तु हृदय में कामना की बढ़िया का रौद्र रूप उसे कल नहीं लेने देता। वह किसी भी बात को सोचता है तो बड़ी तीव्रता से। संसार ने जो उसकी ओर उपेक्षा की है उसके प्रतिकार के लिए वह संनद्ध है। उसने भी दृढ़ कर लिया है कि 'संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं, तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही'। अभी तक उसे समाज के बन्धनों का भय है। संसार एक कठोर आलोचक है, यह वह

समझता है, इसलिए अपनी असाधु-वृत्तियों को स्वतन्त्र रूप से प्रकट नहीं होने देता ; परन्तु जब उसे निश्चय हो जाता है कि उसके इस नियन्त्रण का भी कोई स्पष्ट महत्व नहीं है, तब अपनी राक्षसी लीलाओं एवं पाशविक कृत्यों द्वारा ही समाज और संसार को भयत्रस्त करना वह अपना अभीष्ट बना लेता है। अब शील-संकोच का डर उसे भय-भीत नहीं कर सकता। साथ ही यह भी स्थिर हो जाता है कि पतन की ओर यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असंभव है। मनुष्य के आंतरिक भावावेश की आभा वाह्य रूप में तुरन्त प्रतिबिम्बित हो उठती है। यही कारण है कि नरेन्द्रगुप्त को उसके ललाट पर रक्त और हत्या का स्पष्ट उल्लेख आभासित हो जाता है।

परिस्थिति एवं घटनाओं के घात-प्रतिघात के कारण विकटघोष मनुष्य-कोटि से गिर जाता है। उसके कार्यों में विवेक की वह झलक नहीं मिलती जो मनुष्य में मिलनी चाहिए। उसके लिए जीवन बड़ा कठोर बन जाता है। वह तो स्पष्ट स्वीकार करता है—'सच बात तो यह है कि मुझे अपने सुख के लिए सब कुछ करना अभीष्ट है'। उसके अभीष्ट-साधन में संसार किसी प्रकार का योग नहीं देता, उसके लिए किसी के हृदय में किसी प्रकार की शुभकामना नहीं है, इसलिए उसका दृढ़ विश्वास है कि 'मेरे लिए तो सभी शत्रु हैं'।

जिस मनुष्य में न तो चरित्र तथा मनोबल होता है और न संस्कृति ही का अवलम्ब रहता है, वह यदि पतन की ओर कुछ आगे बढ़ जाता है तो फिर उसके उद्धार की शीघ्र कोई सम्भावना नहीं दिखाई पड़ती। तृतीय अंक के अन्त में विकटघोष भयंकर धन-लोलुप तथा हत्यारा बन जाता है। वह एक हत्या कर चुका है। उसका समाज-भय मर चुका है। अब उसे हत्या करने में थोड़ा भी संकोच नहीं होता। वह हत्या तथा रक्त की अरुणिमा में मनोरंजन एवं लालित्य देखता है। उसको राज्यवर्धन की हत्या का स्मरण बड़ा उत्साहवर्द्धक मालूम पड़ता है। वह स्वयं स्वीकार करता है—'अब तो मैं रक्त देखकर कितना प्रसन्न होता हूँ'। मनुष्य में जब इस प्रकार की पाशव वृत्तियाँ पूर्ण रूप से जागरित हो जाती हैं तब वह शांति और धर्म की उपेक्षा ही नहीं करता वरन् उसका घोर शत्रु बन बैठता है। धर्म और शान्ति का नाम सुनते ही वह क्रोधातुर हो उठता है और कठोर आलोचक बनकर

कहता है—'मूर्ख ! शान्ति को मैंने देखा है, कितने शवों में वह दिखाई पड़ी। शांति को मैंने देखा है, दरिद्रों के भीख माँगने में। मैं उस शांति को धिक्कार देता हूँ। धर्म को मैंने खोजा—जीर्ण पत्रों में, पंडितों के कूट तर्क में उसे बिलखते पाया। मुझे उसकी आवश्यकता नहीं'।

सुरमा

सुरमा पुष्पलावी मात्र है। महाराज ग्रहवर्मा के राजमंदिर में वह नित्य अपनी पुष्प-रचना लेकर आती है। वहाँ अपार विभव एवं विलास की तुलना में अपने निरीह और महत्त्वहीन जीवन को देखते-देखते वह व्याकुल हो उठी है। ऐहिक सुख के इन्द्रधनुष का अतिरंजित स्वरूप देखकर उसकी प्राप्ति की स्वाभाविक कामना उसके हृदय में उत्पन्न होती है। अपने साधारण जीवन से वह असंतुष्ट है और उसको विश्वास है कि इसमें अवश्य सुधार होगा। उसने शांतिदेव को प्रलोभन के रूप में विश्वास दिलाया है कि 'मैं आजीवन किसी राजा की विलास-मालिका बनाती रहूँ ऐसा मेरा अदृष्ट कहे तो भी मैं मान लेने में असमर्थ हूँ'।

प्रेम-पक्ष में भी सुरमा की वही गति है जो एक विवेकहीन स्त्री की होनी चाहिए। उसकी महत्त्वाकांक्षा, आतुरता और चंचलता ने उसके जीवन को उच्छृङ्खल बना दिया है। अपनी क्षणिक अभिलाषाओं की पूर्ति के विचार से वह ववंडर की भाँति कभी इधर कभी उधर भ्रमित होती है। पूर्ण यौवन के मद से वह विह्वल है। अतृप्त वासना ने उसे इतना अधिक चंचल बना दिया है कि अब वह एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहती। संमुख परिचित शांतिदेव को पाती है। उसको अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करती है और अपने प्रणय का प्रलोभन देती है। अपना हृदय उसके संमुख खोलकर रखती है—'मेरी प्राणों की भूख, आँखों की प्यास तुम न मिटाओगे'। इतना स्पष्ट और सीधा प्रस्ताव उसके हृदय की आतुरता का व्यंजक है। शांतिदेव उसकी चंचलता को तुरंत लक्षित कर लेता है। वहाँ अपने उद्देश्य को सिद्ध होते न देखकर वह तुरंत दूसरी ओर दृष्टि फेरती है।

दूसरी ओर उसे मालव-नरेश देवगुप्त दिखाई पड़ता है। वह आचरण-भ्रष्ट, कामुक और प्रवंचक है। सुरमा का स्वरूप-सौंदर्य तथा भरा हुआ यौवन उसे आकृष्ट करता है। आचरण और स्वभाव में दोनों एक

ही हैं, अतएव आकर्षण एवं संमोहन का प्रभाव दोनों पक्षों में एक सा पड़ता है। देवगुप्त सुरमा का परिचय प्राप्त कर उसके उपवन में कुछ दिन ठहरने की अभिलाषा प्रकट करता है। स्त्रीत्व की साधारण मर्यादा के अनुसार कृत्रिम संकोच प्रकट करते हुए सुरमा कहती तो है—'मैं अकेली इस उपवन में रहती हूँ, आप एक विदेशी'—परंतु उसके कुशल और स्निग्ध वार्तालाप के पाश की ओर अपने को धीरे-धीरे बढ़ाती भी चलती है। देवगुप्त उसकी वृत्तियों को ठीक से समझता चलता है। वह इस प्रकार के व्यवहार में पटु है। किस प्रकार सुरमा क्रम से उसकी ओर खिचती आती है उसको भी वह देखता चलता है। एक वृक्ष के नीचे वह बैठ जाता है; सुरमा माला बनाती हुई उसे कनखियों से देखती जाती है। उसकी यह मुद्रा देखकर देवगुप्त और उत्साहित होता है और कहता है—'अरे तुम्हारा बाल-व्यंजन भी बन गया, कितना सुंदर है। उन कोमल हाथों को चूम लेने का मन करता है जिन्होंने इसे बनाया है'। इस पर सुरमा मन में प्रमुदित होकर उसे और अधिक उत्साहित करती है। आंतरिक प्रसन्नता और सफलता के आवेग को दबाकर हँसती हुई ऊपरी रोष प्रकट करती है—'आप तो बड़े धृष्ट हैं'। इसके उपरांत अपनी पुष्प-रचना लेकर इठलाती हुई जाती है। यहाँ पर लेखक ने सुरमा का जैसा आचरण और स्वरूप खड़ा किया है उसमें बड़ी स्वाभाविकता है। उस के कार्यों, वचनों एवं आंगिक चेष्टाओं से उसकी आभ्यंतरिक वृत्तियों का स्पष्ट प्रकाशन होता है। पतित आचरण की विवेक-हीन साधारण कोटि की स्त्री क्षणिक लालसाओं की पूर्ति के लिए अनुकूल परिस्थिति पाते ही कितनी उच्छृङ्खल एवं तरल हो सकती है इसका प्रमाण, लेखक ने सुरमा का स्वरूप संमुख रखकर, बड़ी मार्मिकता से दिया है।

इस प्रकार कुछ काल तक अबाध रूप में दोनों के जीवन का प्रवाह चलता है इस काल में एक दूसरे को समझने की चेष्टा करते हैं और अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। समय-समय पर सुरमा अपनी दरिद्रता तथा वर्तमान जीवन के प्रति घोर असंतोष प्रकट करती चलती है। जीवन के प्रति असंतोष प्रकट करने के मूल में परिस्थिति का केवल वास्तविक ज्ञान कराना ही अभिप्रेत नहीं है वरन् देवगुप्त की अनुकंपा प्राप्त करना ही प्रधान उद्देश्य है। इधर देवगुप्त

स्वयं सहानुभूति-प्रदर्शन में सचेष्ट है और एक भी अवसर हाथ से जाने नहीं देता। सुरमा को भी आश्चर्य होता है और वह देवगुप्त से कहती है—'क्यों, इतनी सहानुभूति तो आज तक किसी ने मेरे साथ नहीं दिखलाई'। उसके अभी तक के रूप-व्यापार और विचारों को देखकर देवगुप्त उसके विषय में दो बातें स्थिर करता है—'कितनी भावनामयी यह युवती है और अवश्य उसके हृदय में महत्त्व की आकांक्षा है'। सुरमा की यथार्थता का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेने पर देवगुप्त ने अपना वास्तविक परिचय उसे दिया है। सुरमा की आंतरिक वृत्तियों से परिचित होकर उसने समझ लिया कि वह ऐहिक सुख के लिए लालायित है, जीवन में आमोद-प्रमोद चाहती है। ऐश्वर्य-विभव मिलने पर वह सब कुछ करने को तत्पर हो सकती है। जब उसने इस मूल को पकड़ लिया तब निःसंकोच रूप में अपना रहस्य प्रकट करता है—'सुरमा! मैं श्रेष्ठी नहीं हूँ। आज मैं तुम्हें अपना अभिन्न समझकर अपना रहस्य कहता हूँ। मैं मालव-नरेश देवगुप्त हूँ'। इस प्रकार अपना वास्तविक परिचय देकर वह सुरमा को अवाक् कर देता है। फिर विचार करने के लिए बिना अवसर दिए ही तुरंत उसके संमुख अपना मंतव्य स्पष्ट शब्द में रखता है—'चलोगी मेरे साथ'। इस पर परिस्थिति की दासी सुरमा का विवेकहीन हृदय उत्सुक हो उठता है—'इतना बड़ा सौभाग्य'। इस स्थल पर लेखक ने सुरमा के हृदय की एक सुंदर झलक दी है। ऐसी उद्वेगजनक परिस्थिति में भी वह अपने पूर्वपरिचित प्रेमी शांति भिक्षु को नहीं भूल सकी। उसकी स्मृति ने सुरमा को विकट परिस्थिति में डाल दिया, परंतु अब वह आशापूर्ण भविष्य के लिए, प्रत्यक्ष-प्राप्त वर्तमान सुख के त्याग करने में असमर्थ है।

फिर क्या! 'यौवन, स्वास्थ्य और सौंदर्य की छलकती हुई प्याली' देवगुप्त के विलास-भवन में पहुँचती है और वहाँ का वैभव देखकर कुछ दिनों के लिए तो वह चमत्कृत रहती है—'मैं कहाँ हूँ। यह उज्ज्वल भविष्य कहाँ छिपा था और यह सुंदर वर्तमान, इन्द्रजाल तो नहीं है'। वस्तुतः उसके लिए यह जीवन एक इन्द्रजाल ही प्रमाणित होता है। युद्ध की कठोर ध्वनि सुनते ही वह विलासी कायर देवगुप्त उसके बाहुपाश को छुड़ाकर भाग जाता है और वह फिर एक बार विकट-

घोष का पल्ला पकड़ती है। उसी के साथ दस्यु-मंडली की रानी बनी, नाना प्रकार के कुचक्रों में पड़ी दिखाई देती है। जब उसका पुराना प्रेमी विकटघोष नीचता की सीमा से भी आगे निकल जाता है तो वह हृदय-प्रवण रमणी ऊब उठती है और परिवर्तन (सुधार) चाहने लगती है—मैं कहाँ चल रही हूँ........नाचते हुए स्थिर जीवन में एक आंदोलन उत्पन्न कर देना, नहीं यह कृत्रिम है, यह नहीं चलेगा। राज्यश्री को देखती हूँ, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है, पता चलता है कि मैं कहाँ हूँ'। जब यह तारतमिक बुद्धि उत्पन्न हो गई तो सुधार में विलंब नहीं होता। वह दंड की भीख माँगती राज्यश्री के पास चली जाती है और काषाय स्वीकार कर लेती है। इस पात्र में लेखक ने उतार-चढ़ाव खूब दिखाया है। चरित्र की दुर्बलताएं मनुष्य को कितना नाच नचा सकती हैं इसका चित्रण सुरमा में अच्छा हुआ है।

अन्य पात्र

अन्य पात्रों के जीवन की कुछ रेखाएँ भर संमुख आई हैं और उसी प्रकार उनके चरित्र की झलक भर मिल सकी है। देवगुप्त कामुक, कुचक्री और कायर स्वभाव का व्यक्ति है। ग्रहवर्मा अचल और शांत प्रकृति का धीर व्यक्ति है, सुशासक और प्रेमी पति है। राज्यवर्धन पराक्रमी, वीर, कर्तव्यशील और बड़ी लाग का पुरुष है। उसमें आत्मविश्वास और उदारता का अच्छा मिश्रण दिखाई देता है। नरेंद्रगुप्त स्वार्थी, विलासी, व्यवहार-पटु, कुचक्री और नीच प्रकृति का मनुष्य है। उसकी क्षुद्रता, कुमंत्रणाओं और हत्या तक बढ़ सकती है। उसका सच्चे विश्वासघाती के रूप में चित्रण हुआ है। पुलकेशिन् का व्यक्तित्व एक ही झलक में मिल गया है। उसकी वाणी और कर्म में सच्चे वीर की भाँति उत्साह और उदारता है।

इस नाटक का वस्तु-विन्यास साधारण, चरित्रांकन एकांगी और अविकसित रह गया है। इसका कारण बहुत ही स्पष्ट है। पुरानी

इमारत का सुधार बहुत पुष्ट नहीं होता। नींव से ही जो अपुष्ट है उसकी बाहरी तड़क-भड़क से कहाँ तक काम चल सकता है।

अजातशत्रु

बुद्ध (५६७ ई० पू०—४८० ई० पू०) के जीवन-काल में भारत के उत्तराखंड में अनेक गणतंत्रों और महाजनपदों की स्थापना हो चुकी थी। उनमें प्रमुख राज्य चार थे—मगध, कोशल, वत्स और अवंती। इनमें भी मगध प्रधान था। इसके शासकों ने तत्कालीन इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था[1]। उस काल के इतिहास का परिचय प्राप्त करने में उस समय की प्रचलित विभिन्न धर्मों की मतविधायिनी कृतियाँ एवं साहित्य विशेष रूप से सहायक होते हैं। इसी कारण प्रायः सभी इतिहास-लेखक इन्हीं के आधार पर चलते दिखाई पड़ते हैं। इन मतमतांतरों के झगड़े और खींच-तान के कारण एक ही घटना और व्यक्ति के विषय में अनेक रूपों में उल्लेख मिलता है। अतएव कहीं कहीं सत्य-निर्धारण में बड़ी अड़चन होती है। इतना ही नहीं, व्यक्तियों के नामकरण में भी भिन्नता दिखाई पड़ती है। बौद्ध, जैन और पुराण एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। जैसे—अजातशत्रु के लिये कुणिक शब्द का भी व्यवहार हुआ है और बिंबसार के लिए विध्यसेन और श्रेणिक नाम भी मिलते हैं।

बुद्ध के समय में शिशुनाक[2]-वंशीय बिंबसार मगध का शासक था। उस समय मगध की राजधानी राजगह अथवा राजगृह थी। बिंबसार शक्तिशाली और सुदृढ़ शासक था। अपनी शक्ति और राज्य-विस्तार के विचार से उसने अनेक राजाओं की कन्याओं से विवाह किया था। उसकी प्रमुख रानियों में प्रसेनजित् की भगिनी कोशलदेवी और लिच्छवी वंश के राजा चेटक की पुत्री छलना और भद्र (मध्य पंजाब)

---

१ Lectures on the Ancient History of India (Delivered in February, 1918) by Bhandarkar, D. R. (Published by the Calcutta University. 1919), p. 57.

२ मत्स्य और वायु पुराणों में इस शब्द का शुद्ध उच्चारण यही दिया है:— Parjiter. J. R. A. S., 1915). p. 146.

की कुमारी क्षेमा[१] थीं। यों तो अजातशत्रु की माता के नाम और वंश के विषय में भी बड़ा मतभेद मिलता है[२], परंतु अधिकांश विद्वान्[३] और जैन-ग्रंथ यही मानते हैं कि वह वैशाली की राजकुमारी छलना का ही पुत्र था। निकायों में भी उसे वैदेही-पुत्र नाम से ही इङ्गित किया गया है। तिब्बत के दुलवा (Dulva) में उसकी माता का नाम वासवी लिखा मिलता है[४]। इस प्रकार बिंबसार ने अनेक राज्यों से वैवाहिक संबंध स्थापित किया था और कुछ राज्यों से मैत्री जोड़ ली थी। मित्रता के परिणाम-स्वरूप ही उसने जीवक को—जो तक्षशिला से आयुर्वेद की शिक्षा पूर्ण करके आया था और जिसे उसने अपना राजवैद्य नियुक्त किया था—अवंतिराज महासेन चंडप्रद्योत की चिकित्सा करने के लिए भेजा था। शासन-प्रबंध और योग्य मंत्रियों की व्यवस्था से उसके राज्य का अच्छा-संघटन हुआ था[५]। स्वयं बौद्ध होते हुए[६] और बुद्ध के प्रति मैत्रीपूर्ण संमान दिखाते हुए भी धार्मिक विषयों में अन्य संप्रदायों के प्रति वह सदैव उदार था। यहाँ

---

१ Lectures on the Ancient History of India, p. 73-4.

२ Political History of Ancient India by Hemchandra Roy Chaudhuri, p. 137-8

३ (i) Lectures on the Ancient History of India, p. 77.

(ii) The Early History of India by V. A. Smith, 4th, ed., p. 33.

(iii) The Glories of Magadha by Samaddar, J. N (second ed.) p. 18.

४ (i) The Early History of India by V. A. Smith, p. 37, footnote.

(ii) Dictionary of Pali Proper Names Vol. I, p. 34.

५ (i) Lectures on the Ancient History of India by H. Roy Chaudhuri, p. 136.

(ii) Dictionary of Pali Proper Names Vol. I, p. 957.

६ वही Vol. II, p. 285.

तक कि 'उत्तराध्ययनसूत्र' प्रभृति जैन-लेखों में उसे महावीर और उनके धर्म का प्रेमी माना गया है[१]।

बिंबसार के अंतिम काल और उसके प्रति अजातशत्रु के कठोर व्यवहार के विषय में भी मतभेद दिखाई देता है। अपने पिता के जीवन-काल में ही अजातशत्रु चंपा[२] का शासन करता था। देवदत्त बुद्ध का बड़ा भारी शत्रु था और बिंबसार को बौद्धधर्म का संरक्षक मानता था। उसने अजातशत्रु को अपने इद्धि-चमत्कारों से मुग्ध करके अपना ब्रह्मास्त्र बनाया। एक ओर तो उसे अपने पिता को मारकर शासन-भार पूर्णतया अपने हाथ में लेने का आदेश दिया और दूसरी ओर स्वयं स्वतंत्र संघ का निर्माता बनकर अनेक उपायों से बुद्ध के मारने का यत्न करने लगा; परंतु वह सभी अवसरों पर विफल रहा। एक बार अस्वस्थावस्था में जब वह बुद्ध की ओर जा रहा था तो जेतवन के एक जलाशय में जलपान के लिए उतरा और वहीं, पृथ्वी में धँसकर विलीन हो गया[३]। अजातशत्रु ने उसी के मत में आकर अपने पिता की हत्या करने की चेष्टा की, परंतु उसे स्वयं शासन भार त्याग करते देखकर बंदी-गृह में डाल दिया और निराहार रखकर मृत्यु की अवस्था तक पहुँचा दिया। जिस दिन उसे पुत्र उत्पन्न हुआ और स्वयं पुत्र-स्नेह का अनुभव हुआ उस दिन वह दौड़ कर पिता के समीप गया, परंतु तब तक तो बिंबसार की अन्तिम घड़ी आ चुकी थी[४]। इस प्रकार बिंबसार का अन्त बड़ा दुःखद और क्रूरता-व्यंजक था। इस घटना की अतिशयता स्मिथ साहब ठीक नहीं मानते,[५] परंतु रिजडेविड्स और गेजर प्रभृति विद्वान् इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। साथ ही

---

१ History of Ancient India by R. S. Tripathi, p. 94.

२ चंपा—प्राचीन अंग देश (वर्तमान भागलपुर और संभवतः मुंगेर जिले) की राजधानी थी। (i) The Early History of India, p. 32.
(ii) History of Ancient India, p. 94.

३ Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I, p. 1108-10.

४ दिग्घनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त की टिप्पणी, अट्ठकथा, पृष्ठ १६ (महाबोधि सभा, सारनाथ द्वारा प्रकाशित), सन् १६३६।

५ The Early History of India, p. 33.

इनके मत का समर्थन प्राचीन एवं स्वतंत्र जैन लेखक भी करते हैं[१]। बिंबसार की मृत्यु के उपरांत उसी के शोक में उसकी पत्नी कोशलदेवी का भी देहांत हो गया था।

कोशल-नरेश प्रसेनजित् ने विरोध-रूप में काशी की आय पर पुनः नियंत्रण कर लिया था और इस प्रकार जो एक लक्ष की आय का उपभोग मगध राज्य किया करता था उससे अजातशत्रु वंचित हो गया। इस पर मगध और कोशल का युद्ध छिड़ गया। कभी विजय इस पक्ष में रही और कभी उस पक्ष में। अंत में प्रसेनजित् को सफलता प्राप्त हुई और अजातशत्रु बंदी रूप में कोशल लाया गया; परंतु यह विरोध अधिक समय तक नहीं टिका। कोशल-नरेश ने अपनी पुत्री वाजिरा-कुमारी का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया और दहेज-रूप में पुनः काशी-प्रांत और उसकी संपूर्ण आय उसे दे दी।[२] कोशल के अतिरिक्त अजातशत्रु ने संपूर्ण वैशाली प्रांत पर भी सफलतापूर्वक विजय प्राप्त की थी और सारे तिरहुत को अपने राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। इस युद्ध में मल्लों ने लिच्छवियों की सहायता की थी। अतएव उनके साथ इनका भी पराभव हुआ। इस प्रकार अजात ने कोशल के कुछ अंश, संपूर्ण वैशाली और मल्लों पर विजय प्राप्त की थी[३]।

एक बात प्रायः सभी इतिहास-लेखक सामान्यरूप से स्वीकार करते हैं। मगध का बिंबसार, कोशल का प्रसेनजित्, अवंती का चंड-प्रद्योत महासेन और कौशांबी का उदयन ये चारों यशस्वी शासक बुद्ध के ही समकालीन थे। किसी न किसी रूप में इनका और बुद्ध का संबंध तत्कालीन साहित्य, इतिहास और धार्मिक ग्रंथों में समान ढंग से वर्णित हुआ है। राजनीतिक संबंध के अतिरिक्त इन चारों शासकों में कौटुंबिक संबंध भी स्थापित था और ये मित्र थे। किसी कारण विशेष

---

१ Political History of India by Hemchandra Roy Chaudhuri (1932). p. 139.

२ (i) Lectures on the Ancient History of India (1919) by Bhandarkar, D R., p. 76-7.
(ii) Jatak Vol. II, p. 237, 403 & Vol. IV, p. 342.

३ Lectures on the Ancient History of India (1919) by Bhandarkar, D. R. p. 78-9.

से कभी-कभी इनमें विरोध उत्पन्न हो जाता था परंतु फिर शीघ्र ही उस विरोध का शमन भी किसी सुन्दर ढंग से हो जाता था।

बिंबसार और बुद्ध का घनिष्ठ मित्र एवं समकालीन प्रसेनजित् काशी तथा कोशल का अधिपति था[१]। भद्दसाल जातक के अनुसार शाक्यदेश भी उसी के प्रभुत्व के अंतर्गत था[२]। शाक्य लोगों ने षड्यंत्र करके अपने यहाँ की एक नीचकुलोत्पन्ना कुमारी वासभाखत्तिया[3] से कोशल-नरेश का विवाह कर दिया। इसी महादेवी[४] का पुत्र विडुडुभ अथवा विरुद्धक था जो प्रसेनजित् के उपरांत कोशल का शासक बना। कालांतर में जब इस कुमार को अपने मातृ-पक्ष की हीनता का ज्ञान हुआ और शाक्यों की दुर्मति का पता चला तब वह बड़ा कुपित हुआ। शासन-भार अपने हाथों में लेकर उसने शाक्यों से भरपूर वैर चुकाया—बड़ी निर्दयता एवं क्रूरता से उनका नाश किया।[५] प्रसेनजित् को जब अपनी महादेवी के कुलशील का पता चला तब उसे और इसके पुत्र को उसने अपदस्थ कर दिया था, परंतु अंत में बुद्ध के आदेश से पुनः उन्हें वही पद प्राप्त हो गया था। इसी प्रसंग में बुद्ध ने कट्ठहारिक जातक का उपदेश किया था।

विरुद्धक ने अपने पिता के विरुद्ध विप्लव भी किया था। इस विषय में प्रधान सेनापति दीघकारायण—दीर्घकारायण—ने उसकी बड़ी सहायता की थी। यह दीघकारायण अपने चाचा[६] बंधुल मल्ल के स्थान पर नियुक्त हुआ था। यह बंधुल कुशीनारा के मल्ल सामंत का राजकुमार था। इसकी मित्रता प्रसेनजित् के साथ उस समय हुई थी जब दोनों तक्षशिला में विद्यार्थी-जीवन व्यतीत कर रहे थे। पीछे बंधुल श्रावस्ती में जाकर रहने लगा क्योंकि प्रसेनजित् ने उसे अपना सेनापति बना लिया था। वह दुर्जेय वीर और तेजस्वी था। उसकी पत्नी का नाम

१ मज्झिमनिकाय (Pali Text Society) Vol. II, p. 111.

२ भद्दसालजातक (IV, p. 144).

३ 'प्रसाद' ने इसी का काल्पनिक नाम शक्तिमती रखा है।

४ अंगुत्तरनिकाय (P. T. S.) Vol. III, p. 57.

५ धम्मपद अट्ठकथा (P. T. S.) Vol. I. p. 339, Jatak Vol. I. p. 133 and Vol. IV, p. 144.

६ 'प्रसाद' के अनुसार मामा।

मल्लिका था, जो बुद्ध की परम भक्त थी। एक बार गर्भावस्था में उसने वैशाली[1] के कमल-सरोवर का जल पीने की इच्छा प्रकट की। वैशाली के लिच्छवी राजकुमार इस सरोवर की पवित्रता का संरक्षण बड़ी कठोरता से किया करते थे, क्योंकि इसका जल केवल राज्याभिषेक मे ही ग्रहण किया जाता था। इसकी रक्षा में अनेक वीर नियुक्त रहते थे। पत्नी की दोहद-इच्छा पूर्ण करने के लिए बंधुल स्वयं चला और उस सरोवर के रक्षकों को परास्त कर उसने मल्लिका को जलपान कराया। वहाँ से लौटते समय बंधुल और लिच्छवियों में युद्ध हुआ, जिसमें ऐसी सफाई से बंधुल ने बाण चलाये कि विरोधी वीर दो-दो खंड हो गए, परंतु उन्हें अपनी इस स्थिति का पता तब चला जब उन्होंने कमरबंद खोली[2]।

प्रसेनजित् बंधुल की योग्यता और यश से भयभीत रहता था। दुष्ट मंत्रियों के परामर्श में पड़कर उसने बंधुल और उसके पुत्रों को आज्ञा दी कि वे सीमाप्रांत के विप्लव को दबाने जायँ। इसी के साथ गुप्त आज्ञा भी प्रचारित की कि वे मार्ग में ही किसी प्रकार मार डाले जायँ। राजाज्ञानुसार वे मार डाले गए। यह सूचना मल्लिका के पास उस समय पहुँची जब वह बुद्ध[3] और सारिपुत्र प्रभृति को उनके मुख्य शिष्यों के साथ भोजन करा रही थी। सूचना-पत्र पढ़ कर अपने वस्त्र में छिपाकर वह फिर अपने कार्य में लग गई। भोजन के उपरांत जब उपस्थित वर्ग को सब बातें ज्ञात हुईं तो उसके धैर्य तथा शांति की मुक्तकंठ से प्रशंसा हुई। अपने अपकार करनेवाले के प्रति भी उसमें उग्र विद्वेष नहीं दिखाई पड़ा। प्रसेनजित् को जब यह प्रसंग ज्ञात हुआ तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने प्रायश्चित्त रूप में उससे बड़ी क्षमा-याचना की और बन्धुल के भतीजे (भानजे) दीर्घकारायण को सेनापति नियुक्त किया। प्रसेनजित् को मल्लिका ने तो क्षमा कर दिया परंतु दीर्घकारायण ने इसका घातक प्रतिकार किया था। अवसर पाकर प्रसेनजित् के विरुद्ध उसने विरुद्धक को अपनी

१ पता नहीं 'प्रसाद' ने इस स्थल को 'पावा' किस आधार पर लिखा है।

२ Dictionary of Pali Proper Names Vol. II, p. 266-7.

३ Papanca Sudani, Majjhima Commentary Vol. II, p. 753 Aluvihara Series, Colombo.

चातुरी और शक्ति से सिंहासन पर बैठाया। पीछे इसी दुःख को लेकर प्रसेनजित् मरा भी[1]।

वत्सराज उदयन की राजधानी कौशांबी थी। वत्स तत्कालीन इतिहास के प्रमुख राज्यों में था। उदयन के जन्म और जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक काव्य-कथाएँ मिलती हैं। सोमदेव रचित 'कथा-सरित्सागर' (ग्यारहवीं शताब्दी)—भास के दोनों नाटक 'स्वप्न-वासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञायौगंधरायण', श्रीहर्ष की 'रत्नावली' एवं 'प्रिय-दर्शिका' इत्यादि साहित्यिक कृतियों में उसका अनेक प्रकार से उल्लेख मिलता है। इतिहास लेखकों ने भी इन्हीं आधारों को अपनाया है। काव्यात्मकता को छोड़कर इतना तो स्पष्ट ही है कि उदयन प्रमुख शासक था और वैवाहिक नीति के बल से अवंती, मगध एवं अंग राज्यों से संबद्ध था[2]। इसकी तीन रानियों का विशेष उल्लेख है—अवंती-नरेश चंडप्रद्योत् अथवा चंड महासेन की पुत्री वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ता, बौद्धग्रंथों में कथित श्यामावत्ती अथवा पुराण और काव्यग्रंथों में उल्लिखित मगध-शासक दर्शक (अजातशत्रु ?)[3] की बहन पद्मावती एवं मागंधीय ब्राह्मण की कुमारी मागंधी।

मा ंधी के पिता ने उसके विवाह का प्रस्ताव बुद्ध से किया था, परंतु उन्होंने तिरस्कारपूर्वक अस्वीकृत कर दिया था। इसीलिए मागंधी के मन में बुद्ध के प्रति निरादर था। पद्मावती मागधी होने के नाते बुद्ध की भक्त थी। वत्सराज स्वयं धर्मप्रिय न था, परंतु किसी धर्म का विरोध न करता था। बुद्ध के नाते मागंधी पद्मावती से भी विरोध मानती थी और उसे अपमानित करने की चेष्टा में लगी रहती थी। ऐसे अनेक उपघातों का उल्लेख मिलता है। उदयन के वाद्ययन्त्र में सर्प छिपाकर रखने का अभिप्राय यह था कि सहसा प्रकट होने पर

---

१ (i) धम्मपद अट्ठकथा, Vol. 1. p. 228 & 349-56; Jatak Vol. IV, p. 148.

(ii) History of Ancient India by R. S. Tripathi, p. 92.

२ वही p. 90.

३ Lectures on the Ancient History of Hindia (1919) by Bhandarkar, D. R. Second Lecture.

उदयन के हृदय में यह विश्वास होगा कि पद्मावती उसके जीवन पर घात करना चाहती है। उदयन जब वाद्ययंत्र अपने पास रखकर सोया और उसमें से वह सर्प निकला उस समय उसे इसका अवश्य विश्वास हो गया। इस पर वह पद्मावती पर बड़ा कुपित हुआ और उसकी छाती में पूरी शक्ति से एक कठोर बाण मारा, परंतु पद्मावती के सत्य-बल के कारण वह बाण विफल हो गया। उदयन को भी उसकी पवित्रता का निश्चय हो गया। इसी प्रकार मागंधी यह आक्षेप किया करती थी कि पद्मावती अपने निवास-स्थान में लुक-छिपकर बुद्ध को आते-जाते देखा करती है। इस पर उदयन ने उस स्थान के सभी गवाक्ष बंद करा दिए थे। जब सब भाँति मागंधी हार गई तो अंत में उसने अपने चाचा के योग से षड्यंत्र करके पद्मावती के गृह में आग लगवा दी। जब सत्य का पता चला तो उदयन उस पर अत्यंत कुपित हुआ[1]।

बुद्ध के धर्म और समय से संबंध रखनेवालों में तीन व्यक्तियों का नाम विशेष रूप में लिया जाता है। आनंद उसी दिन उत्पन्न हुआ था जिस दिन बुद्ध। वह शुद्धोदन के भाई अमितोदन का पुत्र था। अतएव बुद्ध का चचेरा भाई और बड़ा ही प्रिय शिष्य था। उसका सद्धर्म में अटूट विश्वास था। पीछे चलकर बुद्ध की वृद्धावस्था में वही उनका प्रधान साथी और सेवक बना था। संपूर्ण धर्म में नाना प्रकार की प्रमुखता उसे प्राप्त थी। वह बुद्ध का सच्चा भाष्यकार और धर्म-प्रचारक था[2]। उसका अभिन्न मित्र और बुद्ध का मुख्य शिष्य सारिपुत्र थेर था। उसका व्यक्तिगत नाम उपतिस्स था, जो उसके मूल निवास स्थान के आधार पर था। उसके पिता वगांगंत ब्राह्मण थे और उसकी माता का नाम रूपसारी था। बुद्ध ने अपने शिष्यों में स्वयं ही उसे सर्वश्रेष्ठ पद दिया था और अपने बाद उसी की मर्यादा स्थापित की थी। उसकी अलौकिक बुद्धि और ज्ञान में पूर्वजन्म के सुंदर कर्मों का लोकोत्तर संस्कार था[3]। सारिपुत्र के उपरांत द्वितीय प्रमुख स्थान महा मोग्गलायन थेर का था, जिसका जन्म राजगृह के समीप कोलित ग्राम

---

१ Dictionary of Pali Proper Names Vol, II p. 596.

२ Dictionary of Pali Proper Names Vol. I. p. 249.

३ Dictionary of Pali Proper Names Vol. II, p. 1108.

में हुआ था। इसकी माता मोग्गली ब्राह्मणी थी तथा पिता उस ग्राम का मुखिया था। मोग्गलान एवं सारिपुत्र के कुटुंबों में कई पीढ़ियों से घनिष्ठ मैत्री चली आ रही थी। इसीलिए इन दोनों बौद्ध शिष्यों में भी अभिन्नता थी। वय में ये दोनों बुद्ध से ज्येष्ठ थे। मोग्गलायन में ऋद्धि शक्ति की विशिष्टता थी और बुद्धि के क्षेत्र में भी सारिपुत्र को छोड़कर वह सर्वश्रेष्ठ था[१]।

बौद्धग्रंथों में अंबपाली–अंबपालिका–का प्रायः वर्णन आता है[२]। तत्कालीन समाज क्षेत्र में वेश्याओं के वर्ग और व्यवसाय का संमान होता था। काशी की वारविलासिनी सामावती का उल्लेख भी उसी रूप में मिलता है[३]। यह अम्बपाली वैशाली के राज्योद्यान में सहसा अवतरित हुई और सौंदर्य की प्रतिमा के रूप में विकसित हुई। आगे चलकर इसका सम्बन्ध केवल सामन्तों तक ही परिमित नहीं रहा वरन् इसके संरक्षक और प्रेमी रूप में सम्राट् बिंबसार तक का उल्लेख प्राप्त है[४]। विशेष रूप में यह वैशाली के राजकुमारों की प्रेमिका बनी रही। अन्त में बुद्ध के द्वारा सद्धर्म में दीक्षित हुई थी। बुद्ध को वैशाली के समीप कोटिग्राम में आया सुनकर यह अपनी परिचारिकाओं के साथ स्वयं वहाँ गई थी और भगवान् को भोजन के लिए निमंत्रित कर आई थी। दूसरे दिन बुद्ध उसके यहाँ गए और भोजन किया था। उसी विदाई में इसने अपना उद्यान अम्बपालिवन संघ को समर्पित कर दिया था। अन्त में इसने अर्हत् पद प्राप्त किया था।

प्रथम संस्करण

'राज्यश्री' एवं 'विशाख' के प्रथम और अन्य संस्करणों में बड़ा

---

१ वही p. 541.

२ (i) Sumangala Vitasini (P. T. S.), Vol. 11, p 545
(ii) Vinaya Pitaka (Oldenberged), Vol. 1, p. 231-3.
(iii) Digha Nikaya (P. T. S.) Vol 11, p. 95-8.
(iv) Therigatha Commentary (P. T. S.), p. 206-7 and 252-70.

३ देखिए कणवेर जातक।

४ थेरीगाथा, प्रथम भाग, पृष्ठ १४६।

अन्तर हो गया है। यह अन्तर कुछ तो सिद्धान्त-सम्बन्धी है और कुछ चरित्रांकन-सम्बन्धी। 'अजातशत्रु' के भी प्रथम और अन्य संस्करणों में अन्तर अवश्य है, परन्तु चरित्र-चित्रण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। केवल कथोपकथन ही यत्र-तत्र बढ़ा-घटा दिए गए हैं—वे भी भाव और उक्ति के स्पष्टीकरण के ही निमित्त। कहीं-कहीं तो ऐसा भी हुआ है कि प्रथम संस्करण में कथोपकथन के बीच जो पद्यांश आ गए थे उनको हटा देने के कारण अन्य संस्करणों में कुछ अंश बढ़ाने पड़े हैं। इसलिए साधारणतः देखने में तो अन्तर दिखाई देता है, परन्तु यह अन्तर न तो सिद्धांतसम्बन्धी है न चरित्र और कथानक सम्बन्धी। 'राज्यश्री' की आलोचना में कहा जा चुका है कि आरम्भ में कथोपकथनों के बीच में पद्यांशों के प्रयोग की एक विशेष प्रवृत्ति 'प्रसाद' में थी। इसी विचार से इस नाटक के भी प्रथम संस्करण के आरम्भिक अंश के कथोपकथनों में प्रायः पद्यांशों का प्रयोग हुआ है। अतएव जैसे 'राज्यश्री' के परिवर्धित संस्करण से पद्यांश पृथक् कर दिए गए हैं उसी प्रकार 'अजातशत्रु' से भी। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं गाने भी घटा-बढ़ा अथवा परिवर्तित कर दिए गए हैं। ऐसा करने से कोई विशेष अन्तर नहीं होने पाया।

ऐतिहासिक आधार

'प्रसाद' जी के कथानकों का आधार प्रायः इतिहास ही रहता है, यों तो यथावसर ऐतिहासिक सत्य की रुक्षता बचाने के लिए उन्होंने कल्पना और भावुकता का आश्रय लिया है; परन्तु इस नाटक में काल्पनिक भावुकता की ऐतिहासिक परम्परा स्थापित करने की पूर्ण चेष्टा की है। इस नाटक के प्रधान पात्र बुद्धदेव, विंबसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित्, उदयन प्रभृति तो इतिहास-सिद्ध पात्र हैं ही; इनके अतिरिक्त वासवी, पद्मावती, विरुद्धक, शक्तिमती, छलना, देवदत्त, मागंधी, मल्लिका, बन्धुल इत्यादि भी जातकों तथा अन्य प्रामाणिक ग्रंथों द्वारा अनुमोदित हैं। इन्हीं पात्रों की भाँति कथा-विस्तार एवं घटनाक्रम की व्यवस्था भी इतिहास ही के आधार पर है[1]। यह दूसरी बात

१ देखिए 'अजातशत्रु' नाटक के आरंभ में दिया हुआ कथा-प्रसंग।

है कि लेखक ने इधर-उधर फैली और बिखरी सामग्री की क्रम-स्थापना के लिए स्वच्छन्दता का उपयोग किया है और विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं के अवकाशों की पूर्ति एवं सम्बन्ध की प्रतिष्ठा में अपनी प्रतिभा एवं कल्पना से काम लिया है। इसके लिए लेखक स्वतन्त्र है। वस्तु-स्थिति-योजना और घटनासूत्र की व्यवस्था उसे स्वयं कर लेनी चाहिए। ऐसे ही स्थलों पर 'प्रसाद' जी की प्रबन्ध-चातुरी दिखाई पड़ती है।

बिंबसार-अजात, प्रसेनजित्-विरुद्धक, बुद्ध-देवदत्त, उदयन-पद्मावती इत्यादि का विरोध इतिहास-संमत है। इन विरोधों के कारणों और परिणामों का उल्लेख विभिन्न जातकों और ग्रंथों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। अतएव लेखक ने भी नाटकीय आवश्यकताओं के अनुकूल इनका उपयोग और कथन किया है। इन परिणामों में भी लेखक के अनुमान-विधान की सार्थकता सर्वत्र लक्षित होती है। इसी अनुमान-विधान के आधार पर लेखक ने कई घटनाओं अथवा उनके कारणों को स्थिति के अनुकूल बना लिया है—जैसे बिंबसार का राज्याधिकारत्याग, विरुद्धक और अज़ात की गुटबन्दी, बन्धुल की हत्या, मागंधी-श्यामा-आम्रपाली का एकीकरण इत्यादि। यों तो मागंधी और आम्रपाली के लिए पृथक्-पृथक् रूप में इतिहास ही प्रमाण है परन्तु दोनों का एकीकरण अनुमान और कल्पना-जन्य ही है। इस बात को लेखक ने भी स्वीकार किया है—'चरित्र का विकास और कौतुक बढ़ाना ही' एकीकरण का उद्देश्य है।

कथानक

संपूर्ण कथानक तीन अंकों में विभाजित हुआ है। नाटक में सन्धियों का स्पष्ट रूप नहीं मिलता। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार सन्धियों का विवेचन इस नाटक में उतना अच्छा नहीं होगा, क्योंकि पूरा नाटक विरोध मूलक है। विरोध से ही आरम्भ होता है, विरोध का ही विस्तार दिखाया गया है और अन्त में विरोध की समाप्ति तथा शमन है। अंतर्द्वंद्व और बहिर्द्वंद्व से सारा नाटक भरा है। प्रधान घटनास्थल तीन हैं—मगध, कोशल और कौशांबी। जो विरोधाग्नि मगध में प्रज्वलित हुई उसकी प्रचंडता कोशल में दिखाई पड़ी और उसकी लपट कौशांबी तक पहुँची है।

पारिवारिक कलह से ऊबकर, पुत्र की उद्दंडता देखकर और अपनी

छोटी रानी छलना की अधिकार-लोलुपता तथा कुमन्त्रणा का विचार कर सम्राट् बिंबसार जीवन से उदासीन रहते हैं। यह विरक्ति पहले तो अन्तर्मुखी ही बनी रही परन्तु छलना का अधिकारपूर्ण आग्रह—'आपको कुणिक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी' तथा भगवान् बुद्ध का शांत आदेश—'तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बना दो और इस भीषण भोग से विश्राम लो'—उनके अन्तर्द्वन्द्व को व्यवहार-क्षेत्र में ला खड़ा करता है। सम्पूर्ण शासन-सूत्र अजात के हाथ में सौंपकर वे तटस्थ हो जाते हैं। इसी समय छलना के व्यवहार से दुखी होकर वासवी अपने पीहर (कोशल) चली जाती है। छलना और देवदत्त की मन्त्रणा से अजात राज्य करने लगता है।

सुदत्त जब मगध का यह समाचार लेकर कोशल-नरेश प्रसेनजित् के पास पहुँचता है तो सारी सभा में इसी घटना को लेकर विवाद उठता है। युवराज विरुद्धक ने अजात के पक्ष का समर्थन और उसके कार्यों का प्रतिपादन किया। प्रसेनजित् ने इसमें उसकी हार्दिक दुरभि-संधि की आशंका की और अत्यधिक क्रोधावेश में घोषणा की कि 'विरुद्धक युवराज पद से तथा उसकी माता शक्तिमती राजमहिषी पद से वंचित की जाती है'। इस घटना के अनन्तर अपनी माता की प्रेरणा से विरुद्धक ने अपने पिता से विरोध करने की ठानी और राज्य के बाहर हो गया।

उधर कौशांबी में एक दूसरे ही प्रकार की अशांति उत्पन्न हुई है। मागंधी के षड्यंत्र में पड़कर उदयन पद्मावती के विरुद्ध हो गए हैं। इस षड्यंत्र का भेद खुलने पर मागंधी वहाँ से भागकर काशी में आई और कायापलट कर वारविलासिनी बन बैठी। इस प्रकार हम देखते हैं कि संपूर्ण प्रथम अङ्क विरोधात्मक प्रयत्नों और क्रियावेग से आपूर्ण है। इसके उपरांत पूरे द्वितीय अङ्क में इसी विरोध का विस्तार और चरमसीमा दिखाई पड़ती है। अजातशत्रु और विरुद्धक एक ओर संगठित हुए और प्रसेनजित् तथा उदयन दूसरी ओर। इस प्रकार दोनों दल सुसज्जित होकर दृढ़चित्त से युद्ध के लिए तत्पर होते हैं। इसी स्थल पर विरोध-विस्तार की चरमसीमा माननी चाहिए और यही द्वितीय अंक की समाप्ति है। तृतीय अंक में इस व्यापक विरोध का शमन है। प्रत्येक विरोधी दल अहंकार तथा पापपूर्ण तुच्छ मनोवृत्ति

की निस्सारता पर पश्चात्ताप प्रकट करता है और अपनी भूल को सुधारने की चेष्टा करता है।

कार्य की अवस्थाएँ

कार्य की अवस्थाओं के विषय में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के आचार्यों के विचार प्रायः मिलते हैं। दोनों ने कथानक के पाँच भाग किए हैं। दोनों ने अपने-अपने उद्देश्य के अनुसार पाँच पड़ाव—उतार के स्थल निर्दिष्ट किए हैं। पाश्चात्य नाटकीय रचना के लिए विरोध ही मूल भाव होता है। अतएव उन्होंने कथानक की पाँच भूमिकाएँ—आरंभ, विकास, चरमसीमा, निर्गति और परिसमाप्ति मानी है। पर भारतीय प्राचीन नाटक केवल धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए रचे, खेले और देखे जाते हैं। उनमें सुखकारी फल का लाभ ही प्रधान कार्य रहता है। इसीलिए उसमें कार्य की चार अवस्थाओं—आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति के उपरांत पाँचवीं फलागम या फल-प्राप्ति रखी गई है।

प्रस्तुत नाटक में कार्य की अवस्थाओं का विचार यदि पाश्चात्य रीति के अनुसार करें तो प्रथम अंक में विरोध का आरंभ और उसके विभिन्न कारणों का वर्णन है। संपूर्ण द्वितीय अंक में विरोध का विस्तार है। अंक की समाप्ति में विरोध व्यापक बनकर पूर्ण हो जाता है। सब विरोधी दल एक में मिलकर पुष्ट और उद्योगशील बन जाते हैं। विरोध की चरमसीमा आ जाती है। इसके उपरांत निर्गति का अभाव है। विस्तार के उपरांत विरोध का क्रमिक ह्रास तथा संकोच न दिखाकर सहसा समाप्ति एवं शमन वर्णित है। तृतीय अंक में विरोध की शांति दिखाकर विरोध का परिहार किया गया है। यह नाटक विरोध-मूलक है, इसीलिए इसकी अवस्थाएँ भारतीय सिद्धांत के अनुसार न होकर पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अधिक अनुकूल दिखाई पड़ती हैं। वहाँ विरोध से आरंभ होने के कारण विस्तार की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ फलागम लक्ष्य है। अतएव द्वितीय अंक में इसी फल की प्राप्ति का यत्न दिखाया जाता है। इस रूपक में यत्न का रूप अत्यंत क्षीण दिखाई पड़ता है। इसमें कार्य की अवस्थाओं का विभाजन भारतीय रीति पर न कर पाश्चात्य रीति के अनुसार ही करना अधिक समीचीन होगा। यदि सम्पूर्ण बाह्य एवं आन्तरिक विरोधों का शमन ही मानव-

जीवन का परम उद्देश्य मान लें तब तो यह आवश्यक हो जायगा कि विरोध का आरंभ, विस्तार इत्यादि वर्णित करके शांति में ही उसका पर्यवसान दिखाएँ।

चरित्र-चित्रण

चरित्रांकन के विचार से पात्रों के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं, एक देव वर्ग दूसरा राक्षस-वर्ग। मनुष्य में सुंदर-असुंदर, उदात्त-हीन और उदार-संकुचित सभी प्रकार की वृत्तियाँ पाई जाती हैं। कहीं उसका देव रूप प्रकट होता है कहीं दुष्ट। तारतम्य के आधार पर इसी द्वंद्व का प्रदर्शन चरित्र-चित्रण में होता है। मन, वचन, कर्म से कौन महत् है और कौन पतित इसका विवरण चरित्रांकन में मिलता है। इस चित्रण में यथार्थता और प्रकृतत्व का विचार ही सौंदर्य और आकर्षण की सृष्टि कर सकता है। यथार्थता तथा प्रकृतत्व का विचार बुद्धि एवं हृदय के समन्वय में प्राप्त होता है; अतएव यदि विवेक और भावुकता का उचित मात्रा में उपयोग हो तो पात्रों का चरित्र-विकास बड़ा ही प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

प्रस्तुत नाटक में भी 'प्रसाद' ने पात्रों के दो वर्ग स्थापित कर लिए हैं। कुछ पात्र ऐसे हैं जो अपने जागरित विवेक, मनोबल, उदारता और चरित्र की निर्मलता के कारण मनुष्यता की समभूमि से ऊपर उठे दिखाई पड़ते हैं। ये परिस्थिति के प्रभाव से परे ही नहीं रहते है, प्रत्युत् अपने व्यक्तित्व और आचरण की निर्मलता द्वारा दुष्टों को भी घात-प्रतिघात के गर्त में से निकालकर पावन मानव-भूमि पर ला खड़ा करते हैं। दूसरे ऐसे होते हैं जो सर्वथा पराधीन होते हैं और परिस्थिति एवं कुसंस्कार से विवश होकर अधोमुख बन जाते हैं। अंत में पवित्र व्यक्तियों के आचरण और व्यवहार से प्रभावित होकर इनका उद्धार होता है।

विदूषक

'प्रसाद' के नाटकों में विदूषकों के हास्य-विनोद की मात्रा न्यून है। पारसी ढंग पर लिखे गए नाटकों के अभिनय देखकर साधारण बुद्धि के सभी सामान्य सामाजिक इस न्यूनता को बड़ा भारी अभाव मानते हैं। वस्तुतः बात यह है कि लेखक अपनी रचनाओं की गंभीर परि-

स्थिति में हास्य-विनोद का अधिक स्फुरण अप्राकृतिक मानता है; उसे इसमें रस-विरोध दिखाई पड़ता है। जहाँ क्रियाशीलता और मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण का विस्तार अधिक हो वहाँ हलके हँसोड़पन को स्थान नहीं मिल सकता, क्योंकि यह सुंदर बहुमूल्य साड़ी में लगी हुई थिगड़ी सा ज्ञात होता है। 'विशाख' के प्रथम संस्करण की भूमिका में लेखक ने इस विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं। लेखक के ये विचार और सिद्धांत विचारणीय हैं। यदि वह चाहता तो वसन्तक के अतिरिक्त अन्य शासकों के दो और विदूषकों को रखकर हास्य का अधिक विस्तार कर सकता था; परंतु 'भिन्नरुचिर्हि लोके'।

महाराज उदयन का विदूषक वसंतक ही इस नाटक में हास्य का उत्पादक है। मगध का राजवैद्य और राजा का साथी उसके हास्य-विनोद का आधार है। प्रत्येक अंक में एक दृश्य वसंतक के लिए रखा गया है। विदूषकों के प्रयोग का उद्देश्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राज-परिवार का समीपवर्ती और स्नेहभाजन होने के कारण उसे यथासमय ऐसे अनेक अवसर प्राप्त होते हैं जिनमें वह स्वच्छंदतापूर्वक राजपरिवार के सम्बन्ध की विभिन्न घटनाओं, परिस्थितियों एवं मनोवृत्तियों की आलोचना करता है और समय-समय पर प्रधान कथा के प्रवाह का क्रम ठीक करता है, साथ ही अपने हास्य-विनोद और व्यंग्यों द्वारा ऐसे प्रसंगों की अप्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में सूचना देता जाता है, जो प्रधान प्रवाह में नहीं आ सकते। कहीं-कहीं पूर्ववर्ती एवं परवर्ती घटनाओं का उल्लेख भी कर देता है। इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त ही 'प्रसाद' ने इस विदूषक का प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि विदूषक का रूप प्रधान कथा से भिन्न न होकर उसी में घुला-मिला चलता है। इसी में उसकी सुन्दरता और प्रकृतत्व रहता है। नाटक के रस और भाव से पृथक् यदि उसकी स्थिति होती है तो वह निरर्थक और उद्देश्यहीन हो जाता है।

प्रथम अंक के छठें दृश्य में जो वसन्तक का प्रवेश कराया गया है वह सर्वथा साभिप्राय है। वह जीवक को संबोधन करके अपने राज-परिवार के अंतःपुर की वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान कराता है। पाचवें दृश्य में वर्णित उदयन और मागंधी के वार्तालाप और छठें दृश्य के आरंभ में की गई जीवक की जिज्ञासा—'सुना है कि कई दिन से

पद्मावती के मंदिर में उदयन जाते ही नहीं और व्यवहारों से कुछ असंतुष्ट से दिखाई पड़ते हैं—का उत्तर वही देता है। 'महाराज ने एक नई दरिद्र कन्या से विवाह कर लिया है, मिथ्या विहार करते-करते उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो गया है। महादेवी, वासवदत्ता और पद्मावती जीर्ण हो गई हैं। तब कैसे मेल हो'। वह निश्चय होकर महाराज उदयन तथा मगध नरेश की व्यंग्यात्मक आलोचना भी करता चलता है—'अजी, अजीर्ण है अजीर्ण! मिथ्या आहार से पेट का अजीर्ण होता है और मिथ्या विहार से बुद्धि का। उसमें तो गुरुजनों का ही अनुकरण है। श्वशुर ने दो व्याह किए तो दामाद ने तीन। कुछ उन्नति ही रही'। इसके अतिरिक्त इसी दृश्य के आरम्भ में जीवक की घबड़ाहट की शांति के लिए आगामी घटनाओं का पूर्वाभास भी प्रकट करता है। जीवक से मिलने का यही प्रधान उद्देश्य था—'बड़ी रानी वासवदत्ता पद्मावती को सहोदरा भगिनी की तरह प्यार करती हैं। उनका कोई अनिष्ट नहीं होने पावेगा। उन्होंने ही मुझको भेजा है'।

इसके उपरांत द्वितीय अंक के नवें दृश्य में फिर बसंतक दिखाई पड़ता है। उसका साथी वहाँ भी वही जीवक है। इस दृश्य में कोई विशेषता नहीं है। इन दोनों के कथोपकथन में राजा के समीपवर्ती और सहचर जीवक की ही आलोचना है—'यदि ये समीपस्थ सहचर चाहें तो शासन में अनेक सुधार कर सकते हैं; परन्तु सुख, स्वार्थ-साधन में लिप्त रहकर ये लोग केवल राजा का मुख देखकर परामर्श दिया करते है। अप्रसन्नता की आशंका से सदैव हाँ में हाँ मिलाया करते हैं और इसी प्रकार अपना पेट पालते हैं'। इस दृश्य की सार्थकता केवल उस अंश में है जहाँ पर बसंतक ने आगामी परिस्थिति की सूचना दी है—'पद्मावती देवी ने कहा है कि आर्य जीवक से कह देना कि अजात का कोई अनिष्ट न होने पावेगा, केवल शिक्षा के लिए ही यह आयोजन है और माताजी से विनती से कह देंगे कि पद्मावती शीघ्र उनका दर्शन करेगी'।

तीसरे अङ्क के छठें दृश्य में धारा से छूटे हुए कथांश को स्पष्ट करने के लिए विदूषक का प्रयोग हुआ है। देवदत्त की मृत्यु, विरुद्धक के पुनः युवराज बनाए जाने और मगधराज के कोशल की राजकुमारी के विवाह की सूचना दोनों नागरिकों के वार्तालाप द्वारा मिल गई है।

इसके अतिरिक्त वसंतक का प्रवेश केवल मागंधी के नवीन परिचय के लिए हुआ है—"फटी हुई बाँसुली भी कहीं बजती है। एक कहावत है कि—रहे मोची के मोची—कहाँ साधारण ग्राम्यबाला! हो गई थी राजरानी। मैं देख आया वही मागंधी ही तो है। अब आम की बारी लेकर बेचा करती है और लड़कों के ढेले खाया करती है'।

अंतर्द्वन्द्व

जैसे सामाजिक जीवन में द्वंद्व—संघर्ष, विरोध, युद्ध इत्यादि में प्रकट होता है उसी प्रकार हृदय-क्षेत्र में भी दो विरोधमयी प्रवृत्तियों के कारण द्वन्द्व चलता है। सत्-असत्, पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, राग-विराग इत्यादि से युक्त होकर जब दो भाव एक साथ उत्पन्न होते हैं तो मनुष्य विचार के आधार पर नहीं निर्णय कर पाता कि किस पक्ष को स्वीकार करे अथवा किसका त्याग करे। ऐसी स्थिति में उसके भीतर 'हाँ—नहीं' में खींच-तान चलती रहती है। यही अन्तर्द्वन्द्व कहलाता है। यह स्थिति कहीं तो चरित्र की दुर्बलता के कारण उत्पन्न होती है, कहीं परिस्थिति की गहनता से। कुछ भी हो, है यह विचार-दौर्बल्य ही। जिस मनुष्य की निर्णय-शक्ति पूर्ण प्रबुद्ध नहीं होती उसी पर इसका विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। नाटक में इस स्थिति-वैषम्य के योग से बड़े-बड़े अनूठे चरित्रवाले पात्र खड़े होते हैं। पाश्चात्य नाटककार इसकी बड़ी सराहना करते हैं और उस नाटक का बड़ा महत्व मानते हैं जिसमें अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित मानव का अच्छा चित्रण मिलता है। इस स्थल पर यह कहना आवश्यक है कि यों तो इस प्रकार की सृष्टि सभी साहित्यों में दिखाई पड़ती है, परन्तु इसकी ओर जो विशेष रुचि दिखाई जाने लगी है वह आधुनिक काल की देन है। पाश्चात्य देशों में जहाँ चित्रांकन के प्रवाह में व्यक्ति-वैचित्र्य की ओर विशेष दृष्टि लगी रहती है वहाँ इसके चित्रण का कौशल भी दिखाई पड़ता है और नाटक में इसका अधिक उपयोग होता है। प्राचीन भारतीय नाटकों में इस शैली के वैलक्षण्यपूर्ण चरित्रों का प्रयोग कम हुआ है। पाश्चात्य प्रणाली का प्रभाव इधर भारतीय लेखकों पर दिखाई पड़ता है। 'प्रसाद' के पात्र भी इस उलझन में पड़ गए हैं। 'अजातशत्रु' के विबसार और वासवी में इसका अच्छा स्वरूप दिखाई पड़ता है।

बिंबसार और वासवी

बिंबसार और वासवी शांत, धीर, दृढ़, उदार और त्यागशील पात्र हैं। महात्मा गौतम बुद्ध का प्रभाव इन दोनों पर समान दिखाई पड़ता है। बिंबसार का महत्तम त्याग वासवी की अनुमति और गौतम की प्रेरणा से ही हो सका है। इतनी बड़ी राज्य-विभूति को छोड़कर भी बिंबसार में अधिकार से वंचित होने का दुःख नहीं है, क्योंकि वह पुत्र की आध्यात्मिक उपयोगिता भी मानता है—'संसारी में त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए यह पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर और वीतराग हो जाने से, असंतोष नहीं रह जाता; क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है'। वासवी ऐसी पतिव्रता और संतोषी स्त्री का योग इस विषय में बिंबसार के लिए विशेष कल्याणकारी सिद्ध हुआ है। राज्यसुख और अधिकार की लिप्सा उसे रंचमात्र भी कर्तव्यविमुख नहीं बना सकी। छलना की दुष्ट एवं कटु वाणी से भी उसकी शांति विचलित नहीं होती। बुद्ध का परामर्श पाते ही वह पति से एक कदम आगे दिखाई पड़ती है। पति को आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करती है—'भगवन ! हम लोगों को तो एक छोटा-सा उपवन पर्याप्त है। मैं वहीं नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी'। इस प्रकार पति की त्याग-तितिक्षा में वह सदैव साथ देती रहती है। बिंबसार की त्याग-तितिक्षा अकर्मण्य ही रह जाती है; परंतु वासवी इन्हीं के बल पर अपने विरोधी अजातशत्रु और छलना के उद्धार और कल्याण के मार्ग में बहुत आगे बढ़ती है ! इस प्रकार उसमें कर्म-शीलता भी देखने को मिल जाती है।

इन दोनों पात्रों में राग-विराग का अंतर्द्वंद्व प्रकृत रूप में दिखाई पड़ता है। बिंबसार से जब बुद्ध ने राज्य-त्याग की बात कही और उसे समझाया कि एक अधिकारी व्यक्ति को यह बोझ सौंपकर वह पृथक् हो जाए तो उसने उत्तर दिया—'योग्यता होनी चाहिए महाराज ! यह बड़ा गुरुतर कार्य है'। इस उत्तर में जहाँ एक ओर त्याग की तत्परता ध्वनित हो रही है वहीं टालने का एक बहाना-सा मालूम पड़ता है, जिससे राज्याधिकार की आकांक्षा प्रकट होती है। बुद्ध और वासवी के संमुख तो वह विराग प्रकट करता है, परंतु राग भी पिंड नहीं छोड़

रहा है। यह रूप आगे चलकर प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में और भी स्पष्ट हो जाता है। राज्याधिकार से वंचित होने का तो दुःख उसे नहीं है फिर भी कुणीक के व्यवहार से उसे अपने अधिकार का ध्यान हो आता है और याचकों को लौट जाते देखकर उसे वेदना होती है। इससे प्रकट होता है कि अभी तक उसके भीतर संपन्न स्थिति का मोह घर किए ही है। वासवी भी जो केवल एक उपवन से ही संतुष्ट होने वाली थी यहाँ आते-आते अधिकारलिप्सा से संयुक्त दिखाई पड़ती है—'जो आपका है वही न राज्य का है, उसी का न अधिकारी कुणीक है और जो कुछ मेरे पीहर से मिला है उसे जब तक मैं न छोड़ूँ तब तक तो मेरा ही है। काशी का राज्य मुझे मेरे पिता ने आँचल में दिया है, उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिए और मगध-साम्राज्य की एक कौड़ी भी आप न छुएँ। नाथ ! मैं ऐसा द्वेष से नहीं कहती हूँ, किंतु केवल आप का मान बचाने के लिए'। अभी तक उसमें अधिकार-प्रेम और संमान-रक्षा का भाव दब नहीं सका है। बिंबसार के कहने पर—"नहीं ! जीवक ! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं। अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रुचता'—वासवी अपने विचारों को अधिक स्पष्ट रूप में कहती है—'तब भी आपको भिक्षावृत्ति नहीं करनी होगी। अभी हम लोगों में वह त्याग, मानापमान रहित अपूर्व स्थिति नहीं आ सकेगी। फिर, जो शत्रु से अधिक घृणित व्यवहार करना चाहता हो, उसकी भिक्षावृत्ति पर अवलंबन करने को हृदय नहीं कहता'। इस पर बिंबसार भी स्वीकार कर लेता है—'जैसी तुम लोगों की इच्छा'। इन उद्धरणों से राग-विराग का द्वंद्व स्पष्ट हो जाता है। दोनों पात्र हाँ-नहीं की उलझन में पड़े दिखाई पड़ते हैं, अतएव शुद्ध वीतराग नहीं माने जा सकते। अवश्य ही ये लोग राज्य-कामना से बहुत दूर हट आए है, परंतु निर्लिप्त तटस्थता के लिए जिस मानापमान और द्वेषाद्वेष-भाव से विरक्ति होने की आवश्यकता होती है और वह अपने शुद्ध रूप में नहीं आ सकी है। यही मध्य स्थिति इन पात्रों को सजीव बनाए हुए है।

बिंबसार और वासवी का यही द्वंद्वात्मक रूप अंत तक चलता है। वस्तुस्थिति से प्रेरित वैराग्य को दृढ़तापूर्वक स्वीकार किए हुए, अपनी विरोधमूलक प्रवृत्तियों पर कठोर निग्रह करके पत्नी-पति अपना तर्क-वितर्क-भरा जीवन वहन कर रहे हैं। इसके बीच में यदि कोई आकर अजातशत्रु अथवा राज्य का प्रसंग छेड़ता भी है तो वे जिज्ञासा भाव से

सुनकर भी निर्लिप्त बनने का उद्योग करते हैं। छलना से सुनकर कि कोशल और मगध में युद्ध का उपद्रव हो रहा है, अजात भी उसमें गया है, साम्राज्य भर में आतंक है—बिंबसार के मुख से जो शब्द निकलते हैं वे उसके अन्तर्द्वंद्व को अच्छी तरह समझा देते हैं। उसने एक साँस में दोनों पक्षों की बात कह दी है—'युद्ध में क्या हुआ (मुँह फिराकर) अथवा मुझे क्या', फल जानने की उत्सुकता और इन प्रपंचों से तटस्थता दोनों बातें यहीं खुल जाती हैं। इसी प्रसंग में छलना, बिंबसार और वासवी में जो व्यंग्य-प्रधान संवाद होता है उसके प्रवाह में छलना की कटूक्ति सुनकर बिंबसार एक स्थान पर उग्र हो उठता है, जिससे उसकी यथार्थ मनःस्थिति प्रकट होती है—"(खड़े होकर) छलना! मैंने राजदंड छोड़ दिया है किंतु मनुष्यता ने अभी मुझे नहीं परित्याग किया है। सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी! चली जा। तुझे लज्जा नहीं, बर्बर लिच्छवी-रक्त!' ऐसे अवसरों पर वासवी अधिक संयत और सहनशील दिखाई पड़ती है, उसका नारी-गौरव गिरने नहीं पाता। अजातशत्रु के बंदी होने का समाचार मिलते ही वह ममत्व से द्रवित हो उठती है। वात्सल्य और पत्नी कर्तव्य के चक्र में पड़कर भी, अवसर विशेष के विचार से, बिंबसार की सेवा का भार छलना पर छोड़कर आप कोशल पहुँचती है और अजात को बंदी-रूप में देखकर विचलित हो जाती है—'न न भाई! खोल दो। इसे मैं इस तरह देखकर बात नहीं कर सकती हूँ। मेरा बच्चा कुणीक''' इस ममत्व-वाणी में उसका मातृत्व झलक रहा है। इसके उपरांत तीसरे अंक के आठवें दृश्य में उसका संतोषपूर्ण अधिकार-गर्व दिखाई पड़ता है—(छलना से) 'चल, चल, तुझे पति भी दिला दूँ और बच्चा भी। यहाँ बैठकर मुझसे लड़ मत कंगालिन'। आगे के दृश्य में वह ऐसा करा भी देती है। बिंबसार का भी सारा विषाद वात्सल्य में परिणत हो जाता है। अजातशत्रु और छलना को आकर चरणों पर गिरते और वासवी को उनकी वकालत करते पाकर बिंबसार में परिवर्तन आ जाता है। वह स्वीकार करता है—'मैं मनुष्य हूँ और इन मायाविनी स्त्रियों के हाथ का खिलौना हूँ''''''उठो वत्स अजात! जो पिता है वह क्या कभी भी पुत्र को क्षमा—केवल क्षमा—माँगने पर भी नहीं देगा। तुम्हारे लिए यह कोश सदैव खुला है। उठो छलना, तुम भी'।

अजातशत्रु

चरित्रांकन के विचार से अजातशत्रु का आरंभ बड़ा प्राकृतिक है। नाटक का आरंभ उसके अधिकारपूर्ण स्वर से होता है—'क्यों रे लुब्धक! आज तू मृगशावक नहीं लाया। मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा।' अधिकार का सहवर्ती दंड-विधान भी उसमें कठोर रूप का है—'हाँ—तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र! ला तो मेरा कोड़ा'। अधिकार का संगी मानापमान विचार भी उसमें प्रत्यक्ष है—'तो इस प्रकार तुम पद्मावती! उसे मेरा अपमान करना सिखाती हो............फिर तुमने मेरी आज्ञा क्यों भंग होने दी। क्या दूसरे अनुचर इसी प्रकार मेरी आज्ञा का तिरस्कार करने का साहस न करेंगे'। इन उद्धरणों से उसमें अधिकार-दर्प, शासन की क्रूरता, पद-संमान को लेकर उच्छृंखलता और दुःशीलता प्रकट हो रही है। यही दुर्गुण उसके चरित्र-विकास की मूल भित्ति है। इसके उपरांत तो फिर वह द्वितीय अंक के आरंभ में हमारे सामने शासक-रूप में आता है। उस समय उसमें पूर्ववर्ती दुर्गुणों की पूरी वृद्धि हुई दिखाई पड़ती है—'प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है। चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। राजकर मैं न दूँगा! यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई। काशी का दंडनायक कौन मूर्ख है! तुमने उसी समय उसे बंदी क्यों नहीं किया'। इस कथन में उसकी आवेशपूर्ण उग्रता दिखाई देती है। आरंभ में जिस अधिकारपूर्ण स्वर को हम सुन चुके हैं उसी का यह विकास है। अपने अधिकार और शासन में किसी को अड़ते देखकर वह क्षुब्ध हो उठता है। विरोध सहन करने की क्षमता ही उसमें नहीं है और न विचार कर सकने की शांत योग्यता ही है।

देवदत्त के साथ अजातशत्रु महामान्य परिषद् के सभ्यगण से जिस युक्तिपूर्ण ढंग से बातचीत करता है और उन्हें अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है उससे उसकी व्यवहार-पटुता का पूरा बोध हो जाता है। परिषद् को वह जिस प्रकार उत्तेजित करके अपने पक्ष में लाता है और देवदत्त को परिषद् का प्रधान बनाता है उससे उसमें सभा-चातुरी और मन की स्थिति को परखने की पूरी-पूरी शक्ति प्रकट होती है। सातवें दृश्य तक पहुँचकर क्रोध से फुफकारता हुआ सर्प जैसे मदारी की बीन के

सामने विनत वदन हो जाता है उसी प्रकार वह भी मल्लिका के माधुर्य-पूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर शांत हो जाता है—'क्षमा हो देवि ! मैं जाता हूँ अब कोशल पर आक्रमण नहीं करूँगा। इच्छा थी कि इसी समय इस दुर्बल राष्ट्र को हस्तगत करूँ, किन्तु नहीं, अब लौट जाता हूँ'। परंतु वह लौटकर भी लौट नहीं पाता। अपनी माता की प्रेरणा से पुनः युद्ध मे आता है और प्रसेनजित् के द्वारा बन्दी बनाया जाता है। बंदीगृह में वासवी की ममत्वपूर्ण वाणी से उसमें परिवर्तन उत्पन्न होता है। फिर तो सर्वत्र ही क्षमा-याचना करता है। प्रेम के क्षेत्र में वह सच्चे प्रेमी के रूप में दिखाई पड़ता है। बाजिरा से कारायण का प्रेम-निवेदन सुनकर आत्मविश्वास और गर्व से भरे वीर की भाँति वह ललकार उठता है—'कारायण ! यदि तुम्हें अपने बाहुबल पर भरोसा है तो मैं तुमको द्वंद्व युद्ध के लिए आह्वान करता हूँ'।

विरुद्धक

विरुद्धक अजातशत्रु से अधिक चारित्र्य-पूर्ण है। पिता से अनादृत और निरस्कृत होकर अधिकारच्युत किया जाता है। असहाय और निरवलंब होने से उसमें विरोधमूलक दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति से प्रेरित और अपनी माता द्वारा उत्साहित किए जाने पर वह एक क्रूर निश्चय पर पहुँचता है—'आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा। माँ ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के मूल कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी बन्दना करूँगा'। इस उद्धरण से उसकी मातृभक्ति, दृढ़निश्चय और प्रतिशोध-भावना की क्रूरता स्पष्ट लक्षित हो रही है। 'अपमान सहकर, चाहे पिता का ही सिंहासन क्यों न हो' उसे रुचिकर नहीं है। वह अपनी धुन का पक्का साहसिक हो जाता है और अपने बाहुबल से 'अधिकार एवं स्वत्व' प्राप्त करना चाहता है। शैलेंद्र डाकू बनकर काशी की जनता में आतंक फैलाता है। उसमें व्यवहार की पूरी कुशलता दिखाई पड़ती है। पहले तो बंधुल को अपने दल में मिलाने का उद्योग करता है। वहाँ असफल होने पर अजातशत्रु को अपना लक्ष्य बनाता है। बिना किसी शक्ति के अभीप्सित उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं है, इसको वह अच्छी तरह जानता है।

कुछ देर के लिए वह अवश्य ही श्यामा के आलस्य-पूर्ण सौंदर्य की तृष्णा में पड़ गया है; परंतु शीघ्र ही सजग हो उठता है—"मैं स्वयं भूल गया हूँ कि मैं कौन था, मेरा उद्देश्य क्या था.....................यह प्रेम दिखाकर मेरी स्वतन्त्रता हरण कर रही है। अब नहीं, इस गर्त में अब नहीं गिरूँगा। कर्मपथ के कोमल और मनोहर कंटकों को कठोरता से निर्दयता से हटाना ही पड़ेगा। इसी निश्चय के अनुसार श्यामा का गला घोंटता है। उसके शिथिल हो जाने पर उसके आभूषण उतार लेता है और उसके घर में भी जो कुछ है उसे उठा ले जाता है; क्योंकि उसको धन की आवश्यकता है। उसके इस क्रूर आचरण से इष्ट-साधन की दृढ़ता ही प्रकट होती है। उसे 'अभी' प्रतिशोध लेना है—दावाग्नि सा बढ़कर फैलना है, उसमें चाहे सुकुमार तृण-कुसुम हो अथवा विशाल शालवृक्ष सब भस्म होंगे। अजातशत्रु को अपने अनुकूल बनाता है। युद्ध की मन्त्रणा करता है और खड्ग लेकर शपथ करता है कि 'कौशांबी की सेना पर मैं आक्रमण करूँगा ......जब मैं पदच्युत और अपमानित व्यक्ति हूँ तब मुझे अधिकार है कि सैनिक कार्य में किसी का भी पक्ष ग्रहण कर सकूँ, क्योंकि यही क्षत्रिय की धर्मसंमत आजीविका है। हाँ, पिता से मैं स्वयं नहीं लड़ूँगा'। इस स्थल पर उसकी विवेकबुद्धि भली-भाँति झलक उठती है। इसके उपरांत तो तीसरे अंक के तीसरे दृश्य में वह मल्लिका के संमुख अपनी वैयक्तिक हार स्वीकार करके क्षमा का प्रार्थी बन जाता है। इस प्रकार उसमें स्वावलंबन, दृढ़ता, उद्योग, वीरता, विवेक आदि अनेक पुरुषोचित गुण और धर्म दिखाई पड़ते हैं।

अन्य पुरुष पात्र

कारायण और बंधुल वीर सैनिक हैं। बंधुल में युद्ध-शौर्य के साथ सचाई है। कहीं भी वह प्रलोभन और कुचक्र में पड़ा नहीं दिखाई पड़ता, परंतु कारायण में प्रबल प्रतिहिंसा का भाव है। वह कुचक्र भी रच सकता है, परन्तु राष्ट्र का विरोध करते देखकर विरुद्धक का साथ नहीं देता। उसका विरोध केवल प्रसेनजित् से है, क्योंकि वह उसके मामा की हत्या का कारण है। शक्तिमती को उचित मार्ग पर लाने की चेष्टा करता है। प्रसेनजित् प्राचीन रूढ़ियों का उपासक और कुशल शासक है। असहनशील और उग्र स्वभाव के कारण बंधुल की

हत्या की सलाह देता है और विरुद्धक को अपना विरोधी बना लेता है। उसमें पिता का मृदुल हृदय भी है, जिससे वह क्षमाशील और पाप-स्वीकृति में उदार है। बुद्धदेव आदर्श पुरुष-देवता हैं। उनका विरोधी देवदत्त कुटिल, कुचक्री और व्यवहार-कुशल व्यक्ति है।

मल्लिका

मल्लिका अपने जीवन से सर्वथा संतुष्ट, पतिपरायणा, आदर्श रमणी है। उसे अपने पति की वीरता पर अनन्य विश्वास है—'वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि संमुख युद्ध में शक्र भी उनके प्रचंड आघातों को रोकने में असमर्थ है।' उसमें पत्नी मर्यादा का भव्य रूप दिखाई पड़ता है। पति की अनन्य अनुरागिणी होकर भी वह अपने कर्तव्य और दायित्व से विमुख नहीं होती। पति को अनुराग और सुहाग की वस्तु मानकर भी उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करती है। उसकी कर्तव्य भावना कितनी निर्मल है—'महान् हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही स्त्री का कर्तव्य नहीं है।' जहाँ उसे अपने व्यक्तिगत कर्तव्य का इतना ज्ञान है वहीं दूसरे को भी कर्तव्यच्युत नहीं देख सकती। जब महामाया ने उसके पति के जीवन के प्रति आशंका प्रकट करके उसे भयभीत करना चाहा तो उसने निर्भीक और दृढ़ होकर उत्तर दिया है—'रानी! बस करो। मैं प्राणनाथ को अपने कर्तव्य से च्युत नहीं करा सकती और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुंब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा जब तक कि स्वयं राजा राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाय।' वह नारी कर्तव्य-पालन, पतिभक्ति और मर्यादा का आदर्श रूप है। 'उसे केवल स्त्री-सुलभ सौजन्य और समवेदना तथा कर्तव्य और धैर्य की शिक्षा मिली है।' इसीको अपने जीवन का उसने लक्ष्य बना रखा है।

वैधव्य-दुख—जो 'नारी-जाति के लिए कठोर अभिशाप है'—को मल्लिका ने जिस अगाध धैर्य के साथ स्वीकार किया है उसमें उसकी कष्ट-सहिष्णुता का ज्ञान किया जा सकता है। ऐसी कठोर स्थिति में भी कर्तव्य की उपेक्षा वह नहीं करती—'आतिथ्य परम धर्म है। मैं भी नारी

हूँ। नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है, वह मैं अनुभव कर रही हूँ, शरीर की धमनियाँ खिंचने लगती हैं। जी रो उठता है, तब भी कर्तव्य करना ही होगा।' कलेजे पर पत्थर रखकर वह शांति समन्वित श्रद्धा से अपने निमंत्रित सारिपुत्र प्रभृति को भोजन कराती है। उस समय उसका चरित्र 'धैर्य का, कर्तव्य का स्वयं आदर्श है।' उसके हृदय में उस समय भी अखण्ड शांति है। यह जानकर भी कि उसके पति की हत्या का कारण कौन है उसके 'मुखमंडल पर तो ईर्षा और प्रतिहिंसा का चिन्ह भी नहीं दिखाई पड़ता।' वह ऐसी भूमिका में पहुँच जाती है जहाँ उसे शुद्ध सात्त्विकता प्राप्त होती है। उसकी अगाध वेदना से करुणा का मंगल रूप प्रकट होता है। फिर तो जिसके हृदय में विश्वमैत्री के द्वारा करुणा का उद्रेक हुआ है, उसे अपकार का स्मरण क्यों कभी अपने कर्तव्य से विचलित कर सकता है। इसी आधार पर मल्लिका अपने प्रमुख अपघातियों तक की सेवा और रक्षा करती है उनसे किसी प्रकार का विरोध नहीं मानती। अपने आचरण की शुद्धता से वह सब आततायियों को प्रभावित करके उन्हें शांति, सौजन्य और मर्यादा का पाठ पढ़ाती है। मल्लिका त्याग, उदारता, सेवा, करुणा, मर्यादा और कर्तव्य की प्रतिमा है—बुद्ध के ज्ञान की जीती-जागती व्यवहार प्रतिमा है।

मागंधी

रूपगर्विता मागंधी अपने ढंग की निराली नारी है। एक बार जो बुद्ध के द्वारा वह तिरस्कृत होती है तो संपूर्ण जीवन भर वात्याचक्र की भाँति नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे मँड़राती दिखाई पड़ती है। उदयन के राजप्रासाद में उसे 'रूप का गौरव तो मिलता है, परंतु दरिद्र कन्या होने के अपमान से दुखी' है। वहाँ भी मानसिक उद्वेग है, इस पर वह निश्चय करती है—'दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं'। इसी दिखलाने में उसे कई घाटों का पानी पीना पड़ता है। 'सुन्दरी स्त्रियाँ भी संसार में अपना अस्तित्व रखती हैं' इसी दंभ को लेकर वह आगे बढ़ती चलती है। पद्मावती के विरुद्ध षड्यंत्र रचती है, परंतु अन्त में प्रासाद छोड़कर भागना पड़ता है। कुचक्र रचने में उसका अच्छा प्रवेश है। प्रासाद से निकलने पर फिर तो काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी श्यामा के रूप में ही उसका दर्शन होता है। वहाँ एक भयंकर रात्रि में

वह अपनी 'अतृप्त वासना' लेकर शैलेंद्र डाकू से मिलने जाती है और अपने प्रेम-नाट्य से उसे मुग्ध कर लेती है। उस रूप में उसकी वासना की प्रबलता और व्यवहार रूप में निर्भीकता अच्छी तरह प्रकट होती है। शैलेंद्र के प्रति प्रेम में वह स्थिर बनी रहती है; उसे बंदीगृह से छुड़ाने का उसने जैसा कौशल पूर्ण उद्योग किया है वही इस बात का प्रमाण है। परंतु शैलेंद्र के क्रूर व्यवहार से वह अत्यन्त दुखी हो उठती है। जिससे वह इतना प्रेम करती है वही उसका गला घोंट देता है और वह मरते-मरते बचती है। बुद्ध की तत्परता से वह पुनः जी उठती है। इस घटना का उस पर यह प्रभाव पड़ता है कि अब वह अपने कलंकी जीवन से विरक्त हो उठती है और मल्लिका की शांतिदायिनी छाया में विश्राम लेती है।

अपने जीवन का सिंहावलोकन उसने स्वयं किया है—'वाह री नियति! कैसे कैसे दृश्य देखने में आए! कभी बैलों को चारा देते देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठाकर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्जा गणिका का आमोद मनोनीत हुआ। इस बुद्धिमत्ता का कहीं ठिकाना है। वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आई है'। जिस समय बुद्ध उसके संमुख आते हैं उनसे अपने जीवन की सारी व्यथा निवेदित करके अपना बचा-बचाया आम्र-कानन भी उन्हीं को अर्पित कर देती है।

छलना और शक्तिमती

राजलिप्सा, अधिकार-सुख और महत्त्वाकांक्षा के लिए लालायित छलना और शक्तिमती ऐसी स्त्रियाँ हैं जो अपने अभीष्ट-साधन में विवेक का स्पर्श ही नहीं होने देतीं। प्रथम की 'धमनियों में लिच्छवी रक्त बड़ी तीव्रता से दौड़ रहा है' और वह अपने पुत्र को निरंतर क्रूर और दुर्मद बनाने में ही निरत दिखाई पड़ती है, द्वितीय दासी की पुत्री होकर भी राजरानी बनी है, हठ से ही उसने इस पद को ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त वह अपने पुत्र को महत्त्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुंड में कूदने के लिए पुरुषार्थ करने का उपदेश देती है। दोनों राजसिंहासन पर बैठे हुए अपने पुत्रों से अपनी वंदना कराना चाहती हैं। दोनों के पुत्र

अपनी माताओं से उपदिष्ट होकर उद्दंडता और उच्छृङ्खलता ग्रहण करते हैं—युद्धप्रिय बनते हैं, घायल और पराजित होते हैं। अंत में पुत्रों के विषम स्थिति में पड़ने के कारण दोनों में चिंताजनक वात्सल्य जगता है जो उनके आचरण-परिवर्तन का कारण बनता है। छलना और शक्तिमती का प्रायः एक सा चरित्र, आचरण और परिणाम दिखाया गया है।

नाटक का नायक और नामकरण

इस नाटक में अजातशत्रु के न तो कार्य-व्यापारों की प्रधानता दिखाई पड़ती है और न उनके व्यक्तित्व का कोई व्यापक प्रभाव ही चित्रित है। उसका अपना कोई चारित्र्य भी नहीं है। वह केवल देवदत्त और छलना का क्रीड़ा-कौतुक है। सदैव दूसरों की सहायता के बलपर हिलता-डोलता दिखाई पड़ता है। मल्लिका ने उपदेश दिया तो निश्चय कर लेता है कि कोशल पर आक्रमण नहीं करेगा। छलना और देवदत्त ने डाँटा-डपटा या समझाया तो पुनः युद्ध में तत्पर हो जाता है। वासवी का सौम्य व्यवहार देखकर तुरंत द्रवित और नमित हो जाता है। उसका अपना न तो कोई विवेक-बल है और न व्यक्तित्व। उससे अधिक व्यक्तित्व तो विरुद्धक में है। सारा कथानक अजात की ही दुर्बलताओं से भरा है। उसमें भारतीय नायक के कोई गुण स्फुट नहीं हैं। नाटक में जैसा चारित्र्य और प्रभाव मल्लिका और प्रकारांतर से गौतम बुद्ध का वर्णित है उसके आधार पर नाटक का नामकरण 'मल्लिका देवी' अथवा 'गौतम बुद्ध' होना चाहिए न कि 'अजातशत्रु'—इस सतर्क जिज्ञासा और प्रश्न का उत्तर आवश्यक है।

लेखक ने नाटक का 'अजातशत्रु' नाम रखकर अपना मंतव्य प्रकट कर दिया है। इतिहास का प्रधान पुरुष वही है, नाटक के संपूर्ण कार्य-व्यापारों का मूल उद्‌गमस्थल और केंद्र वही है और फल का उपभोक्ता भी वही है। कोशल और कौशांबी की स्थिति अजात के कार्यों से प्रभावित है। उसी के कारण प्रसेनजित् और विरुद्धक में विरोध-भाव उठ खड़ा हुआ है तथा मगध-कोशल का संग्राम होता है। इस प्रकार संपूर्ण संघर्ष के मूल में अजातशत्रु है। मल्लिका और बुद्धदेव तो केवल 'शांतं पापम्' करते हैं। नाटक का प्राण जो क्रिया-व्यापार है वह तो उसी के व्यक्तित्व पर आश्रित है। इसके अतिरिक्त वही अपने लक्ष्य की प्राप्ति भी करता है। सारा विप्लव मगध-राज्याधिकार के लिए ही है। इसलिए

उसे अधिकृत करनेवाला अजातशत्रु ही अधिकारी या नेता है। भारतीय दृष्टि से केवल घटनाओं को अभीप्सित परिणाम की ओर अपने व्यक्तित्व या कार्य-कलाप से नयन करनेवाला ही नायक नहीं होता। इन घटनाओं का चक्र जिसके निमित्त प्रवर्तित होता है अथवा जो उसके फल का भोक्ता होता है वही नायक होता है। इस आधार पर नाटक का नामकरण सर्वथा उपयुक्त एवं समीचीन है, भले ही नायक में उसके भारतीय धर्मों का पूर्ण रूप स्फुट न हुआ हो।

रस-विचार

इस नाटक में जैसे कार्य की अवस्थाएँ और अन्य अवयव दोषपूर्ण हैं उसी प्रकार समष्टि-प्रभाव और रस की निष्पत्ति भी शुद्ध नहीं है। जब वस्तु विन्यास का एक भी अवयव दुर्बल हो जाता है तो प्रायः अन्य सभी अवयव अशक्त हो जाते हैं। लेखक के निर्णय के अनुसार नाटक का नायक अजातशत्रु है और उसका लक्ष्य है—राज्य-प्राप्ति। वह राज्य-प्राप्ति तब तक निरापद नहीं समझी जा सकती जब तक शुद्ध अंतःकरण से बिंबसार आशीर्वाद नहीं देता। अतएव अजातशत्रु की फल-प्राप्ति का विरोधी बिंबसार है, भले ही वह विरक्त होकर उसे राज्याधिकार सौंप चुका है। अजात उस फल को प्राप्त करने का उद्योग बड़े उत्साह के साथ करता है। नाटक का अधिकांश इसी उत्साह के प्रसार में लग गया है और सामाजिक उस उत्साह का रसास्वादन करते हैं। अतएव नाटक में वीररस की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है।

आश्रय अजातशत्रु है जिसका सारा प्रयत्न उत्साह-पूर्ण है। उत्साह ही नाटक का स्थायीभाव है। बिंबसार के कारण यह उत्साह खड़ा होता है—बिंबसार आलंबन है। आलंबन की चेष्टाएँ, जैसे काशी का उपद्रव, उद्दीपन का काम करती हैं। अजातशत्रु जो युद्ध संबंधी तैयारी करता है, परिषद में देवदत्त को प्रधान बनाता है, बिंबसार और वासवी को पहरे में रखता है, वह सब अनुभव के अंतर्गत हैं। गर्व, उद्वेग इत्यादि संचारी हैं। इस प्रकार वीररस के संपूर्ण अवयवों का संयोग होता है और द्वितीय अंक की समाप्ति तक वह पूर्ण हो जाता है। जो विस्तार तृतीय अङ्क में है उसके कारण द्वितीय अङ्क तक का समष्टि प्रभाव दूर पड़ जाता है और सारी दौड़ निरर्थक सी ज्ञात होने लगती है। यहाँ

वीररस की निष्पत्ति में विरोध आ जाता है। अन्तस्थल में वीररस की समष्टि का कोई प्रभाव ही रह नहीं जाता। अतः रस की निष्पत्ति का स्वरूप अस्फुट ही रह जाता है।

तृतीय अङ्क में शांत रस की प्रधानता दिखाई पड़ती है जिसका संबंध बिंबसार के जीवन से है। निर्वेद स्थायी का धारणकर्ता—आश्रय बिंबसार ही हो सकता है, अजातशत्रु, जो सांसारिक कुचक्रों और हीनता का प्रतिनिधि है इस निर्वेद का आलंबन है; विरुद्धक और प्रसेनजित् का प्रसंग और छलना की कटूक्तियाँ उद्दीपन का काम करती हैं; बिंबसार के विरक्ति-सूचक संवाद अनुभाव हैं; दुःख, कुतूहल, निर्वेद इत्यादि संचारी हैं। इस प्रकार शांत रस के सब अवयवों के रहते हुए भी उसकी निष्पत्ति नहीं मानी जा सकती; क्योंकि प्रथम तो बिंबसार सबको क्षमा करते हुए रागी दिखाई देता है और इस प्रकार संतोष-पूर्ण प्रसन्नता से विरक्ति और निर्वेद का भाव ही समाप्त हो जाता है, दूसरे वह नायक नहीं है; अतएव सामाजिकों का वह आलंबन नहीं हो सकता। तीसरे भारतीय नाट्यशास्त्र नाटकों में आठ ही रस मानता है। शांत को नाट्य-रस माना ही नहीं गया; क्योंकि उसका साधारणी-करण संभव नहीं सिद्ध होता। उक्त तर्कों के आधार पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि रस के विचार से यह रचना सफल नहीं कही जा सकती। रचना के अन्य अवयवों की भाँति यह अवयव भी अस्फुट ही रह गया है।

इतिहास

चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य द्वारा शासित विस्तृत साम्राज्य के उत्तराधिकारी कुमारगुप्त (प्रथम) का शासन-काल ईसवी सन् ४१५ के पूर्व आरंभ हो चुका था। इस बात का प्रमाण वहन करनेवाला स्तंभलेख[१] भिलसद् से प्राप्त हुआ है। समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य ऐसे वीर शासक उसके पूर्वज थे। उनके द्वारा विजित और सुदृढ़ रूप से नियंत्रित साम्राज्य का अधिकारी कुमारगुप्त हुआ। ऐसी अवस्था में उसे न तो किसी विशेष प्रकार की नवीन व्यवस्था-प्रणाली स्थापित करनी पड़ी और न अन्य कोई राजनीतिक उद्यम प्रकट करने का अवसर मिला। चारों ओर शांति विराज रही थी। प्रजा सुखी और संपन्न थी। यही कारण है कि उस समय कला-कौशल एवं साहित्य, धर्म इत्यादि की विशेष श्रीवृद्धि हुई और वह काल भारतवर्ष का स्वर्ण-युग कहलाया।

इतना होने पर भी वस्तु-विचार का परिणाम यही निकलता है कि कुमारगुप्त (प्रथम) दुर्बल और विलासी शासक था,[२] भले ही उसने पूर्वजों द्वारा प्राप्त शांति-ऐश्वर्य का संरक्षण तीन-चार दशकों तक किया हो। उसकी दुर्बलता और विलासिता के दो प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उसकी वीरता एवं पराक्रम का कोई भी राजनीतिक प्रमाण नहीं प्राप्त है। यों तो तत्कालीन प्रशस्तिकारों ने अवश्य ही अपने प्रभु के प्रीत्यर्थ बहुत कुछ लिखा है, साथ ही उसके नाम के आगे-पीछे विरुद्-वाही उपाधियों की भी कमी नहीं है[३]। उसके जीवन की दो प्रमुख घटनाएँ हैं, एक अश्वमेध यज्ञ और दूसरी पुष्यमित्रों का युद्ध। अश्वमेध यज्ञ की बात उसकी स्वर्ण-मुद्राओं[४] से सिद्ध होती है और युद्ध की बात भितरीवाले शिलालेख[५] से।

---

१ Fleet: Corpus Inscriptionum Indicarum Vol.III, Plate No 10

२ The Age of the Imperial Guptas by R.D.Banerji (1933) P 40

३ Political History of Ancient India by Hemchandra Ray Chandhuri (1932), P. 384, footnote 1.

४ A Catalogue of the Indian Coins in the British Museum (1914) P 43 and pt XII 13 14

५ Fleet C I I Vol. III., No 13

कुमारगुप्त यथासाध्य सफलतापूर्वक अपने राज्य का नियंत्रण करता रहा। उसके प्रांत-पति सदैव उसके सहायक रहे। दशपुर नगरी मालवा प्रांत की राजधानी थी। लाट-देशीय कलाचतुर वैश्यों के नवागमन से यह नगरी श्री-संपन्न हो गई थी। विश्ववर्मा का योग्य और वीर पुत्र नृपति बंधुवर्मा वहाँ का शासन करता था। इस विषय में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का यह कथन[१] अन्य इतिहास पंडित[२] नहीं मानते कि विश्ववर्मा और उसके पिता नरवर्मा ने गुप्तों की अधीनता नहीं स्वीकार की। अधिकतर विद्वान् यही स्वीकार करते है कि बंधुवर्मा कुमारगुप्त (प्रथम) का प्रतिनिधि-शासक था, न कि स्वतंत्र अधिपति, जैसा कि कुमारगुप्त (प्रथम) के मंदसोरवाले शिला-लेख से स्पष्ट है[३]। फैजाबाद जिले के करमदंडा नामक स्थान से मिले लेख[४] के आधार पर ज्ञात होता है कि पृथिवीषेण पहले मंत्रिपद पर था और पीछे कुमारगुप्त (प्रथम) ने उसे महाबलाधिकृत-पद पर आसीन किया। अतिपूर्व में पुंड्रवर्धन (उत्तरी बङ्गाल) भी गुप्त-साम्राज्य के अंतर्गत था, जिसका उपरिक (प्रांतपति) चिरातदत्त था। इस प्रकार प्रान्तों के लिए अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर कुमारगुप्त बङ्गाल से लेकर सौराष्ट्र तक और हिमालय से नर्मदा तक के साम्राज्य का तैंतालीस वर्षों तक शासन करता रहा।

गुप्तकालीन मुद्राओं एवं शिलालेखों[५] से प्रमाणित होता है कि कुमारगुप्त (प्रथम) के उपरांत उसका पुत्र और उत्तराधिकारी[६] स्कंदगुप्त राज्य

---

१ Indian Antiquary (1913), P. 218.

२ The History of North Eastern India by Radhagovind Basak (1934). P. 48-9.

३ गुप्त-साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेवउपाध्याय, द्वि०खंड,प्र०सं०, पृ०३४५.

४ The History of North Eastern India by Radhagovind Basak (1934), P. 50-2.

५ Indian Antiquary, V. A. Smith (1902), p 266

६ परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीस्कंदगुप्तः (Bihar Stone Pillar Inscription of Skandagupta—Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. III, Plate 12, p. 50.

का स्वामी बना। स्कंद की माता के नाम का कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता। भितरीवाली राजमुद्रा के आधार पर कुमारगुप्त (प्रथम) और महादेवी अनंतदेवी का पुत्र और उत्तराधिकारी पुरगुप्त माना जाता है[1]। कुछ इतिहास के विशेषज्ञों ने विचार किया है कि स्कंदगुप्त सच्चा उत्तराधिकारी नहीं था और इसलिए उनका कहना है कि उसमें और उसके सौतेले भाई पुरगुप्त में राज्य की अधिकार-प्राप्ति के विषय में युद्ध हुआ था। इस मत का खंडन अन्य विद्वानों[2] ने किया है। उनका विचार है कि कुमारगुप्त के समय में ही स्कंदगुप्त की योग्यता और पराक्रम की जो धाक जम गई थी उसके कारण इस प्रकार का अंतःकलह एवं युद्ध असंभव था। तत्कालीन इतिहास की सच्ची वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि स्कंदगुप्त के अंतिम काल में ही गुप्त-साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया था और इसका प्रभाव उसके सिक्कों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद है कि पुरगुप्त के शासन आरंभ करते ही गुप्तों का बंगाल से लेकर सौराष्ट्र तक का एकछत्राधिपत्य भंग हो गया था। इसका कारण केवल हूणों का आक्रमण रहा हो ऐसा बुद्धि-संगत नहीं मालूम पड़ता। इन स्थितियों के मूल में अवश्य ही अंतर्विद्रोह भी रहा होगा। अवश्य ही यह अन्तर्विरोध स्कंदगुप्त के आरंभिक काल में उग्र और सक्रिय रूप न धारण कर सका हो, जैसा कि राखालदास बैनर्जी का विचार ज्ञात होता है। परंतु कालांतर में जब स्कंद हूणों से युद्ध करने में निरन्तर व्यस्त रहने लगा हो तो संभव है पुरगुप्त ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचकर अपने को शासक बनाने का प्रयत्न किया हो। संभवतः इसी अन्तर्विद्रोह से दुःखी होकर महाराजपुत्र गोविंदगुप्त पूर्वी प्रांत छोड़कर मालवा में चले आए थे,

---

१ महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनंतदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीपुरगुप्तस्य—भितरी की राजमुद्रा (बंगाल एशियाटिक सोसायटी का जर्नल, १८८६)।

२ (i) Political History of Ancient India by Hemchandra Ray Chaudhury (1932), p. 386-8.

(ii) History of North Eastern India by Radhagovind Basak. 1934. p. 62-3.

इतिहास की इस घटना का साहित्यिक रूप सोमदेव के कथासरित्सागर (विषमशील लंबक) में भी प्राप्त होता है। उसमें भी उज्जैन का नृपति महेंद्रादित्य कहा गया है। उसका पुत्र विक्रमादित्य—विषमशील—था, जो शिव के प्रसाद स्वरूप प्राप्त हुआ था ; क्योंकि उस समय म्लेच्छों का उपद्रव भीषण रूप में चल रहा था और उनसे लोग त्रस्त थे। इस विक्रमादित्य ने भी म्लेच्छों का संहार किया और यह भी उज्जयिनी नगरी में आया था[1]। इस कथा और स्कंदगुप्त के इतिहास में अत्यधिक समानता है, भले ही कथा में काव्यात्मक पद्धति के कारण अन्य असंबद्ध बातें भी हों। कुमारगुप्त के महेंद्रादित्य, स्कंदगुप्त के विक्रमादित्य होने और स्कंदगुप्त के म्लेच्छ-संहार करने तथा उज्जैन में उपस्थित होने के विषय में विवाद नहीं हो सकता। अन्य लेखकों[2] ने भी इस मत का समर्थन किया है।

पुष्यमित्रों की पराजय के उपरांत भी स्कंदगुप्त को साँस लेने का अवसर नहीं मिला। उसके सिंहासन पर बैठते ही बर्बर हूणों के अत्याचार और आक्रमण आरंभ हुए। सारा पश्चिमोत्तर प्रांत त्रस्त हो

(ii) व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्, लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार।—जूनागढ़ का शिलालेख, पंक्ति ५।

—Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. III. p. 59,

१ महेन्द्रादित्य इत्यासीद्राजा...।—सोमदेवकृत कथासरित्सागर, विषमशील लंबक, प्रथम तरंग, श्लोक ११

म्लेच्छाक्रान्ते च भूलोके......।—वही, श्लोक २१।

नाम्नात्तं विक्रमादित्यं हरोक्तेनाकरोत्पिता।

तथा विषमशीलं च महेंद्रादित्यभूपतिः।

—वही, श्लोक ५१।

स राजा विक्रमादित्यः प्राप चोजयिनीं पुरीम्।

—वही, विषमशील लंबक, तृतीय तरंग, श्लोक ७।

२ (i) A Catalogue of the Indian Coins in the British Museum (1914) by Allan, Introduction, p. 99.

(ii) गुप्त-साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, प्रथम खंड, पृ० ११६।

(iii) Political History of Ancient India (1932) by Hemchandra Ray Chaudhuri p 389

उठा। इस पर पुनः वीर स्कंदगुप्त ने अपने अलौकिक पराक्रम का उत्कट प्रदर्शन किया। संभवतः भितरी के स्तंभलेख की चौदहवीं पंक्ति से आगे इसी स्थिति का वर्णन है; क्योंकि मालिनी के उपरांत जहाँ से शार्दूल-विक्रीड़ित छंद आरंभ होता है वहाँ से ऐसा ही मालूम पड़ता है कि यह कुछ पृथक् विषय ही आरंभ हो रहा है। मालिनी छंद तक पुष्यमित्रों के युद्ध और उसके परिणाम-प्रभाव का वृत्त चलता है और उसके उपरांत ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि किसी दूसरे प्रसंग की बात आरंभ हुई है। अपने बाहुबल से पृथ्वी को जीतकर, विजितों पर दया की वर्षा कर निरभिमान रूप से स्कंद ने वंश मर्यादा स्थापित की थी; परंतु फिर भी आततायियों की ललकार सुनते ही पुनः उठा और अपने कर्तव्य पालन में लग गया। उक्त स्तम्भलेख की पन्द्रहवीं पंक्ति में उसके उसी घोर युद्ध का वर्णन है[१]। उस युद्ध में भी उसी को विजय-लक्ष्मी प्राप्त हुई और एक बार फिर से राष्ट्र का उद्धार हो गया। इसके उपरांत भी उसे युद्ध करने पड़े थे और संभवतः युद्ध ही में उसकी मृत्यु भी हुई।

स्कंदगुप्त की प्रशस्त विरुदावली के साथ-साथ उसकी अनेक उपाधियाँ भी थीं। कुछ रजत-मुद्राओं पर उसके दादा द्वारा गृहीत पदवी 'विक्रमादित्य' प्राप्त होती है[२]। इन्दौर के ताम्रपत्र[३] के अनुसार उसकी पदवी 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' थी और कहूम स्तंभलेख[४] में उसे 'क्षितिपशतपति' कहा गया है।

गुप्त-साम्राज्य के इस यशस्वी सम्राट् ने अपने पिता से प्राप्त विशाल राष्ट्र को शक्ति और बुद्धि-बल से भली-भाँति नियंत्रित कर रखा था और अपने विस्तृत राज्य को कई प्रांतों में विभाजित कर प्रांत-पतियों—गोप्ताओं—की देखभाल में रख छोड़ा था[५]। उस समय सौराष्ट्र पर विशेष ध्यान दिया गया था; क्योंकि उसकी राजनीतिक महत्ता थी।

---

१ हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता। —भितरी का स्तम्भलेख, पंक्ति १५।

२ Gupta Coins by Allan, Introduction, p. XLVIII.

३ Fleet, C. I. I. Vol. III, plate No. 16.

४ Fleet, C. I. I. p. 67, plate No. 15.

५ सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन् संचिन्तयामास बहुप्रकारम्। —जूनागढ़ का शिलालेख, पंक्ति ६।

अतएव इस प्रांत में शासन के लिए स्कंदगुप्त को विशेष रूप से विचार करना पड़ा था, ऐसा जूनागढ़ शिलालेख से स्पष्ट है। बहुत सोच-विचार के उपरांत वहाँ का गोप्ता पर्णदत्त नियुक्त किया गया था। वह सम्राट् का विश्वसनीय सहयोगी था[1]। इसी के पुत्र और गिरनार के विषयपति चक्रपालित ने सुदर्शन झील का पुनरुद्धार कराया था, जो स्कंदगुप्त के शासन-काल की एक प्रसिद्ध घटना है। गंगा-जमुना के मध्य का प्रांत अंतर्वेदी के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रांत का शासक शर्वनाग था[2] और यह प्रांत सीधे सम्राट् के अधीन माना जाता था। इसी प्रकार कोसम प्रांत भीमवर्मा के अधिकार में था[3]।

स्कंदगुप्त अपने पूर्वजों की भाँति ही वीर एवं पराक्रमी था। भितरी और जूनागढ़ के लेखों के आधार पर उसकी चरित्र-विषयक विशेषताओं का विशद विवेचन किया जा सकता है। उसमें अलौकिक पराक्रम के अतिरिक्त हृदय की मानव-विभूतियाँ भी वर्तमान थीं। शक्ति के साथ विनय-सुनीति, वीरभाव के साथ करुणा-दया, विजय के साथ लोक-संरक्षण की भी अद्भुत प्रवृत्ति उसमें दिखाई पड़ती थी। उसकी देवोपम उदारता, त्याग और कष्ट-सहिष्णुता इतिहास में प्रसिद्ध है। उसके राजनीतिक जीवन में धार्मिक उदारता का भाव सर्वत्र मिलता है और उसके हृदय में विभिन्न मतावलंबियों के प्रति सद्भाव था।

प्राचीन काल में गुप्त-साम्राज्य अपनी सुख-शांति एवं कला-कौशल के लिए अत्यंत प्रसिद्ध है। उस समय संस्कृत साहित्य की भी विशेष रूप से अभिवृद्धि हुई। अनेक सुन्दर और श्रेष्ठ कृतिकार साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। उनमें सर्वश्रेष्ठ एवं जगद्वंद्य कवि कालिदास की भी गणना की जाती है; परंतु आज तक उनके रचना-काल का निर्णय निर्विवाद रूप में नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का कहना है कि उनकी कृतियाँ ईसवी सन् के पूर्व प्रथम शतक में निर्मित हुईं, कुछ

—Fleet, C. I. I. p. 59, plate No. 14.

१ ज्ञात्वा। ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः। —वही, पंक्ति ८।

२ विषयपतिशर्वनागस्य अंतर्वेद्यां भोगाभिवृद्धये वर्तमाने। —इन्दौर का ताम्रपत्र, पंक्ति ४। —Fleet, C. I. I. p. 70, plate No. 16.

३ कोसम की प्रस्तर-मूर्ति का लेख—Fleet, C. I. I. p. 267, Plate No. 65.

लोग उन्हें गुप्तकालीन मानते हैं और तृतीय दल उन्हें और पीछे ले जाकर छठीं शताब्दी में स्थान देता है[२]। इस प्रकार अपने-अपने अनुकूल तर्कों को ढूँढ़कर प्रत्येक दल उन्हें अपनी ओर खींच रहा है।

यों तो सभी अपनी तर्क बुद्धि के अनुसार इस कवि के समय-निर्धारण का प्रयास कर रहे हैं, परंतु अभी तक जिस दल को अधिक प्राधान्य मिला है वह कालिदास को गुप्त-काल का मानता है। अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने इस काल-निर्णय को उचित माना है। देश की सुख-समृद्धि, उद्यम-उत्साह, वैभव-विलास और राजनीतिक व्यवस्था का जैसा रूप गुप्त-काल में था वैसा ही कालिदास कृत काव्यों में वर्णित है। गुप्त-लेखों और प्रशस्तियों की अभिव्यंजना-पद्धति पर भी कालिदास की छाप दिखाई पड़ती है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक आधारों पर लोगों का यही विचार है कि इस कवि-कुल गौरव की प्रतिभा का आरंभ शकारि चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के अंतिम शासनकाल में हुआ, चरमोत्कर्ष कुमारगुप्त (प्रथम) महेंद्रादित्य के समय में और अंत सम्राट् स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के साथ अथवा उसके कुछ काल उपरान्त हुआ। यही युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाता है जो कालिदास की काव्य-रचना का अनुकूल क्रीड़ास्थल हो सकता है। तर्क एवं बुद्धि-संगत अधिक प्रमाण इसी पक्ष के उपस्थित किए गए हैं और अब तो

---

२ इस विषय पर निम्नलिखित ग्रंथों से विचार संग्रह किए गए हैं—

(i) On the Sanskrit Poet Kalidas by Bhao Daji—Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society-January 1861. p, 19-33 and 207-230.

(ii) Kalidas by M. M. Hara Prasad Shastri—Journal of the Bihar and Orissa Research Society Vol. I 1915 p 197-212 and Vol. II, (1916) p. 31.44 and 179-189,

(iii) Introduction to Raghuvansh by Nandargikar.

(iv) The Early History of India by V. A. Smith (1924). p. 320-1.

(v) Introduction to Kumarasambhava 19.23 by M. R. Kale,

(vi) संस्कृतकविचर्चा—श्रीबलदेव उपाध्याय (कालिदास, मातृगुप्ताचार्य और कुमारदास)।

यह विषय निर्विवाद-सा हो चला है। इस विषय में गुप्त-काल को स्वीकार करनेवालों में अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् सहमत हैं। साथ ही गुप्तकाल के उक्त सम्राटों की शासनसीमा के भीतर कालिदास की स्थिति स्वीकार करनेवालों में मुख्यतः पूना के के० बी० पाठक, विजयचंद्र मजुमदार, श्री भिडे, श्री काले, विंसट स्मिथ प्रभृति लेखक हैं। इनमें भी मजुमदार और भिडे महाशय तो कवि का मुख्य रचना-काल सम्राट् स्कंदगुप्त के शासनकाल को मानते हैं। इस तरह इस कवि का समय ईसवी सन् ३६० से लेकर ४८० तक के भीतर रखा जा सकता है।

कवि कालिदास के साथ ही मातृगुप्ताचार्य का संबंध जोड़ा गया है, जिसका समय औफ्रेक्ट महाशय ने ई० सन् ४२० ठहराया है। डा० भाऊदाजी का एक पुराना मत इस विषय का है। उनके विचार से कालिदास और मातृगुप्त एक ही व्यक्ति हैं। अपने मत के समर्थन में उन्होंने चार बातें कही हैं। पहली बात उस जनश्रुति पर आश्रित है जिसके अनुसार राजा विक्रमादित्य ने प्रसन्न होकर कालिदास को आधा राज्य दान कर दिया था। दूसरी बात कालिदास और मातृगुप्त नामों के अर्थ-साम्य को लेकर चलाई गई है। तीसरी बात राजतरंगिणी में कालिदास ऐसे श्रेष्ठ कवि का उल्लेखाभाव है। चौथी बात प्राकृत-काव्य 'सेतुबंध' के बल पर उठाई गई है। इस काव्य के टीकाकार ने कहा है कि प्रवरसेन की प्रेरणा से इस काव्य को कालिदास ने निर्मित किया। इस टीकाकार की बात का आंशिक समर्थन बाण भट्ट ने भी अपने हर्षचरित में एक श्लोक—'कीर्त्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदो-

---

(vii) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—श्रीगंगाप्रसाद मेहता, १९३२, पृ० १०६, ११९।

(viii) गुप्त-साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, द्वितीय खंड, पृ० ६१, ११२।

(ix) The Date of Kalidas by B. C. Mazumdar (Journal of Royal Asiatic Society, 1909, p. 731-739).

(x) The Date of Kalidas by Kshetreshchandra Chattopadhyaya (1926)

(xi) Kalidas and Gupta Kings by H. B. Bhide (First Oriental Conference, Poona Vol. 1. p. 111)

ज्ज्वला। सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना'—द्वारा किया है। डा० भाऊदाजी के मत के विरुद्ध विद्वानों ने प्रबल प्रमाण उपस्थित किए हैं। इसके अतिरिक्त उस मत का समर्थक भी कोई नहीं हुआ और अब तो वह बात बहुत पीछे छूट गई है। फिर भी यह एक मत चला तो अवश्य जिसपर कुछ दिन तर्क-वितर्क भी चलते रहे।

इसी प्रकार सिंहल के राजकुमार धातुसेन अथवा कुमारदास का संबंध भी कवि कालिदास के साथ कहा गया है। महावंश के अनुसार इसका शासनकाल ईसवी सन् ५११ से ५२४ तक माना गया है। यह राजकुमार बड़ा सुन्दर कवि था। इसके रचित काव्य 'जानकीहरण' की प्रशंसा की गई है। कहा जाता है कि इस काव्य को सुनकर कालिदास ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की थी। इन दोनों कवियों के संबंध का स्पष्ट कारण तो यही है कि रघुवंश और जानकीहरण की शैली में बड़ा साम्य है। कालिदास और कुमारदास की मैत्री का कारण भी यही माना जाता है। इस साम्य का निरूपण थोड़े में नंदर्गीकर पंडित ने इस प्रकार किया है :—

"His Jankiharana is no doubt a close imitation of Kalidasa's great epic, to which we may add, it is not inferior either in quality or in quantity. Most of his verses are saturated with the legends of Ramayana and with the style of Kalidas. Kalidasian words, phrases, metres and Alankaras are interwoven in almost every verse of his poem."

विविध विद्वानों ने इन दोनों की घनिष्ठता एवं मैत्री का उल्लेख किया है; परंतु अन्य विषयों की भाँति इस विषय में भी मत की भिन्नता ही अधिक दिखाई पड़ती है। कुमार धातुसेन और कुमारदास एक ही थे अथवा भिन्न व्यक्ति? वस्तुतः कालिदास और कुमारदास समकालीन थे या नहीं? इन प्रश्नों का कोई एक उत्तर नहीं है।

'दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्' (मेघदूत, १४) के आधार पर विद्वानों ने कालिदास एवं दिङ्नाग के आगे-पीछे की गुरु-परंपरा में यह क्रम स्थापित किया गया है—मनोरथ के शिष्य वसुबंधु (ई० सन् ४२० से ५०० तक), उनके शिष्य दिङ्नाग (पाँचवीं शताब्दी

६

का उत्तरार्ध), फिर उनके शिष्य परमार्थ (ई० सन् ४६६ से ५६६) तक[1])। दिङ्नाग के दादागुरु मनोरथ और गुरु वसुबंधु को हूनच्वंग[2] और परमार्थ ने—जिसने वसुबंधु का बृहत् जीवन-वृत्त लिखा है[3]—श्रावस्ती (संभवतः गुप्त सम्राटों का उत्तरी निवासस्थान) के विक्रमादित्य का समसामयिक बताया है। गुप्त शासकों के समय में बौद्ध विद्वानों एवं ब्राह्मण आचार्यों में शास्त्रार्थ तथा विवाद होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। हूनच्वंग ने अपने विवरण में विक्रमादित्य की सभा में ब्राह्मण मंडली के द्वारा मनोरथ की पराजय का उल्लेख किया है[4]। संभवतः उस मंडली में कुमारगुप्त के आश्रित महाकवि कालिदास भी संमिलित रहे हों और इसलिए प्रतिकार रूप में दिङ्नाग ने आगे चलकर उनका विरोध किया हो।

सामान्य परिचय

रचनापद्धति और नाटकीय गुण के विचार से 'प्रसाद' का सर्वोत्तम नाटक स्कंदगुप्त है। इसमें पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्यशास्त्र के विहित सिद्धांतों का व्यावहारिक प्रयोग बड़ा अच्छा हुआ है। वस्तुतत्त्व, चरित्रांकन, संवाद और देशकाल का चित्रण इसमें बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। स्वयं लेखक को अपनी इस रचना से बड़ा संतोष था। संपूर्ण नाटक में पाश्चात्य सिद्धांत के अनुसार सक्रियता का प्राधान्य है और भारतीय परंपरा के रससिद्धांत का भी सुन्दर समन्वय जितना इस कृति में दिखाई पड़ता है उतना और कहीं नहीं। भले ही कुछ लोग काव्यात्मकता के आधिक्य के कारण नाक-भौं सिकोड़ें, परंतु भारतीय नाट्यपरंपरा की विशिष्टताओं से अवगत सहृदय समालोचक अवश्य ही उसका यथार्थ रसास्वादन करते हैं।

---

१ The Journal of the Bombay Branch of R. A. S. Vol. XXIII. p. 185.

२ On Yuan Chwang's Travels in India by Thomas Watters Vol. I., p. 210-214.

३ गुप्त-साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, द्वितीयखंड पृ० १४०।

४ Introduction to Raghuvansh by Nandargikar, p. 79 80

कथांश

गुप्त-साम्राज्य का अधिपति कुमारगुप्त कुसुमपुर में अपना विलासी जीवन व्यतीत कर रहा है। युवराज स्कंदगुप्त गुप्तकुल के उत्तराधिकार नियम की अव्यवस्था के कारण अपने पद एवं दायित्व से कुछ उदासीन और चिंतित रहता है, जिससे साम्राज्य का भविष्य अंधकारपूर्ण दिखाई पड़ता है। इसी समय मालव-राज्य पर विदेशियों का आक्रमण होता है और एकाकी वीर स्कंदगुप्त ठीक अवसर पर पहुँचकर राज्य की रक्षा करता है। इसके उपरान्त राजधानी में सम्राट् का निधन और परिणाम रूप में कौटुंबिक कलह के कारण स्कंदगुप्त मालव का सिंहासन स्वीकार करता है। हूणों के आक्रमण से आर्यावर्त का रक्षा आवश्यक समझकर वह इस अभिषेक के पश्चात् सेना का संगठन करके आक्रमणकारियों का सामना करता है। इसी बीच में उसे विमाता से उत्पन्न अपने छोटे भाई के कुचक्र को दबाना पड़ता है। युद्ध में साम्राज्य के सेनापति भटार्क की नीचता के कारण हूणों का बढ़ाव नहीं रोका जा सका और स्कंदगुप्त की सेना आपत्ति के गर्त में पड़ जाती है।

कुभा के रणक्षेत्र में स्कंदगुप्त की सेना विच्छिन्न हो जाती है। तदनंतर बड़ी चेष्टा से फिर एक बार सेना का संगठन होता है और गुप्त साम्राज्य के बचे-बचाए वीर एकत्र होते हैं। स्कंदगुप्त भी गोपाद्रि से बढ़कर सिंधु के समीप आता है। वहाँ दूसरी बार युद्ध होता है और हूण पूर्ण रूप से पराजित होते हैं। इस प्रकार स्कंदगुप्त अपने जीवन-काल में एक बार तो आर्यावर्त को हूणों से निरापद बना ही देता है। नाटक के इस कथांश का समर्थन इतिहास करता है। सम्पूर्ण घटना-चक्र का उतार-चढ़ाव इतिहास-संमत है।

वस्तुतत्त्व और कार्यावस्थाएँ

सारी वस्तुस्थिति एवं घटना-चक्र का विभाजन पाँच अंकों में इस प्रकार किया गया है कि आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशादि कार्यों की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्ट बोध होता चलता है। प्रथम अंक में आरंभ नामक कार्यावस्था का बहुत सुन्दर चित्रण है। नाटक का यह अंक परिचयात्मक होता है। इसमें प्रमुख सभी पात्रों की मौलिक विशिष्टताओं का निदर्शन, कुलशीलता का स्पष्ट निर्दोष और फल-समस्या का खुला हुआ

उल्लेख आवश्यक रहता है। इसीलिए घटनाओं के संगठन का वेगयुक्त होना अत्यंत अपेक्षित रहता है। इस सिद्धांत का निर्वाह प्रस्तुत नाटक में बड़ा सुन्दर मिलता है। विभिन्न पात्रों के कुल-शील के साथ-साथ प्रधान मनोवृत्तियों का परिचय तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त कार्य-व्यापार की अधिकता के कारण आद्यंत आकर्षण भी बना रहता है। इसी अङ्क में नाटक के लक्ष्य—फल—अथवा साध्य विषय का परिचय स्पष्ट रूप से प्राप्त हो जाता है।

गुप्त-साम्राज्य की स्थिति बड़ी गंभीर है। गृह-कलह, सम्राट् की कामुकता, युवराज की उदासीनता, महाबलाधिकृत वीरसेन की असामयिक मृत्यु और बर्बर हूणों के लगातार आक्रमणों के कारण साम्राज्य एवं आश्रित राष्ट्र-मंडलों की रक्षा का प्रश्न जटिल हो गया है। ऐसी स्थिति में यह एक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि किस प्रकार साम्राज्य और आर्यावर्त का सम्मान बचे। अतः कौटुंबिक कलह की शांति और राष्ट्रगौरव की रक्षा ही वह फल है जिसकी प्राप्ति स्कंदगुप्त तथा उसके अन्य सहयोगियों का लक्ष्य है। लेखक ने इस अङ्क में साध्य विषय की विषमताओं एवं प्राप्ति के साधनों का आभास बड़ी सावधानी से दिया है। अनन्तदेवी, पुरगुप्त और भटार्क के कुचक्र में पड़कर सम्राट् का निधन होता है। साथ ही साम्राज्य के परमहितैषी पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दण्डनायक आत्महत्या कर लेते हैं। कर्तव्योन्मुख स्कंदगुप्त की चेष्टाओं पर इन व्याघातों का बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ता है। वह महत् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अग्रसर होकर मालव-रक्षा में संनद्ध होता है। लक्ष्य-प्राप्ति के साधन का भी यहीं से आरंभ हो जाता है।

अङ्क की समाप्ति भी बड़े उत्साहवर्धक स्थल पर हुई है। जिस प्रकार नाटकों का आरंभ और अन्त आकर्षक तथा प्रभावशाली होना चाहिए उसी प्रकार प्रत्येक अङ्क की समाप्ति भी ऐसे स्थलों पर आवश्यक है जो लक्ष्य-साधन के सुन्दर पड़ाव प्रमाणित हो सकें, जिन अंशों पर पहुँचकर यह स्पष्ट दिखाया जा सके कि उत्कर्ष का यह एक खण्ड पूरा हुआ। इस स्थल पर आकर जैसे कथानक की खंड-समाप्ति का ज्ञान कराना आवश्यक है उसी प्रकार चरित्र विकास की आंशिक पूर्णता का आभास देना भी। प्रथम अंक के समाप्ति स्थल पर इन दोनों विचारों का अच्छा योग है। कार्य की आरंभावस्था की समाप्ति के साथ-साथ

चरित्र-विकास और रस-परिपाक के उपक्रम का परिचय प्राप्त हो जाता है। मालव की गौरव-प्रतिमा टूटने ही को है; द्वार टूट चुका है, विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश होता है, भीम आकर उसे रोकता है और गिरते-गिरते जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध करता है। सहसा स्कंदगुप्त सैनिकों के साथ प्रवेश करता है। उसे इस प्रकार टूट पड़ते देखकर शक और हूण स्तंभित होते हैं। फिर भयंकर युद्ध होता है और स्कंदगुप्त शत्रुओं को बन्दी बनाता है। यहाँ भारत की दुर्दम युद्ध-वीरता का आलोकपूर्ण रूप मुखरित हो उठता है।

इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और दिखाई पड़ती है। आधिकारिक कथावस्तु की आरंभावस्था की समाप्ति के साथ ही स्कंदगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध प्रेम की प्रासंगिक कथावस्तु का आरंभ भी यहीं से हो जाता है। जयमाला और देवसेना के अतिरिक्त विजया की नवीन और अपरिचित मूर्ति का दर्शन होने पर स्कंद का उसकी ओर आश्चर्ययुक्त आकर्षण दिखाकर नाटककार ने प्रासंगिक कथानक का सूत्रपात किया है। धीरे-धीरे आधिकारिक वस्तु के साथ-साथ इस प्रेम प्रसंग का उत्कर्षापकर्ष दिखाया गया है। प्रेम की यह एकांत-चर्या स्कंद के अंतरंग जीवन से संबद्ध होकर चली है। कहीं भी वह उसके सामाजिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डालती। अतएव इसका सर्वथा पृथक् रूप ही से विचार करना अच्छा होगा; यों तो इसने स्कंद के जीवन की धारा को कभी छोड़ा नहीं है।

द्वितीय अंक में प्रयत्नावस्था है। यह प्रयत्न दो विषयों का है। साध्य के साधन में दो विघ्न हैं। इस अंक में इन्हीं दोनों विघ्नों को हटाने का प्रयत्न हुआ है। प्रथम विघ्न तो गृह-कलह है जो अनंतदेवी और भटार्क के कुचक्र रूप में दिखाई पड़ता है। प्रथम अंक में इन कुचक्रियों ने सम्राट् का जीवन समाप्त किया, अब इस अंक में देवकी की जीवन-लीला पूरी करना चाहते हैं। दूसरा विघ्न बर्बर आक्रमणकारियों का आतंक है, जिससे संपूर्ण देश की रक्षा करनी है। एक ओर इस महान् उद्देश्य की पूर्ति का प्रश्न है और दूसरी ओर स्कन्दगुप्त अपना विरागी मन किस-किस ओर लगाए, यह समस्या है। प्रयत्न रूप में वह कुसुमपुर में पहुँचकर ठीक समय पर अपनी माता देवकी की रक्षा करता है। इस प्रकार षड्यंत्र का नियंत्रण होता है। उधर अवंती में

राज्याधिकार स्वीकार कर सेना और सहयोगियों के द्वारा शक्ति-संचय करता है, जिससे प्रधान लक्ष्य की सिद्धि का योग मिलता है। द्वितीय अंक की समाप्ति प्रभावशाली और आकर्षक है। स्कंदगुप्त का राज्यारोहण और कुचक्रियों का बंदी-रूप मे सामने उपस्थित होना इसका अंतिम दृश्य है। इसमें प्रयत्न-पक्ष की पूर्णता स्थापित होती है। इस प्रयत्न के रूप का दर्शन होने पर भविष्य स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है।

प्रेम की प्रासंगिक कथा भी आगे बढ़ती है। इस अङ्क में विजया स्वीकार करती है कि युवराज स्कन्द की ओर वह आकर्षित है; परंतु उसके विराग-भाव को देखकर उसकी चंचल वृत्ति विमुख हो जाती है। फलतः वह भटार्क की ओर बढ़ती है। न्यायाधिकरण में वह भी भटार्क और अन्य बंदियों के साथ उपस्थित होती है। स्कन्दगुप्त को आश्चर्य और संभवतः दुःख होता है। वहाँ विजया स्वीकार करती है कि 'मैंने भटार्क को वरण किया है'। इस पर स्कन्द के विरागी हृदय को चोट पहुँचती है। साथ ही देवसेना स्थिति को स्पष्ट रूप से समझ लेती है। उसे यह ज्ञात हो जाता है कि वस्तुतः स्कन्द विजया से प्रेम करता है। अतएव वह अपना कर्तव्य स्थित कर लेती है।

तृतीय अङ्क में भी स्कन्द की जीवन-धारा का क्रम पूर्ववत् ही रहता है। अनंतदेवी, भटार्क और प्रपंचबुद्धि का कुचक्र उसी प्रकार चल रहा है और स्कन्दगुप्त को उसी प्रकार उससे युद्ध करना पड़ता है। महादेवी देवकी की ओर से असफल होकर ये लोग देवसेना को अपना लक्ष्य बनाते हैं। उसी कुचक्र में विजया भी सम्मिलित हो जाती है। श्मशान में ठीक अवसर पर पहुँचकर मातृगुप्त और स्कन्द देवसेना की रक्षा करते हैं। इसके पश्चात् बंधुवर्मा को महाबलाधिकृत बनाकर सम्मिलित सेना के साथ स्कन्द पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की गांधार-घाटी में युद्ध करने बढ़ता है। उसकी सेना में एक अंश मागधी सेना का भी है जिसका नायक भटार्क है। भटार्क रणस्थल मे आने के पूर्व हूण दूत से मिलकर उसके अनुकूल कार्य करने के लिए वचन-बद्ध हो जाता है। उस पर बंधुवर्मा को संदेह होता है और वह समयानुसार स्कन्द को सावधान भी करता है, परंतु स्कन्द अपनी स्वाभाविक उदारता और नीति के अनुसार भटार्क को केवल सचेतभर कर देता है। उस महत्त्वपूर्ण अवसर पर भटार्क अपना सच्चा रूप प्रकट करता है। जो दायित्व उसे

सौंपा गया था उसके ठीक विरुद्ध आचरण करके स्कन्द के जीवन को अन्धकार के गर्त में डाल देता है। जिस समय स्कन्द की सेना कुभा पार कर रही थी उसी समय वह बाँध काट देता है, जिससे स्कन्द और उसके साथ की सेना बाढ़ में बह जाती है। भटार्क के कारण फल की प्राप्त्याशा की स्थापना नहीं हो पाती।

कार्य की भारतीय प्राप्त्याशावस्था की स्थापना नियमतः तृतीय अङ्क की समाप्ति के साथ-साथ होनी चाहिए; परंतु उस अङ्क के अन्त में प्राप्त्याशा का रूप उपस्थित न होकर पाश्चात्य चरमसीमा का रूप स्फुट और स्पष्ट होता है। प्रधान पात्र के लिए आशंका, विरोध और कष्ट की यहाँ चरमसीमा दिखाई पड़ती है। हाँ, फल-प्राप्ति की आशा एवं सम्भावना अन्य प्रकार से ध्वनित् है। स्कन्दगुप्त का चरित्रबल इन आपदाओं से हार नहीं मान सकता, यह विश्वास, प्राप्ति की आशा का रूप है। दूसरी बार वह दुगुने उत्साह से आक्रमण करेगा और आशा की जा सकती है कि उस फल की सिद्धि होगी। वह भटार्क ऐसे संदिग्ध सैनिकों पर पुनः विश्वास करने की भूल कदापि न करेगा। यहाँ यदि ऐसा विश्वास न किया जाय तो इस अङ्क के अन्त में आकर फल-प्राप्ति की आशा तो नहीं, हाँ उसके दुःखों की चरमसीमा का बोध अवश्य होता है।

इसके अतिरिक्त अन्तःसलिला पयस्विनी के समान प्रेम का प्रसंग और अधिक रङ्ग पकड़ता है। अपना राज्य स्कन्दगुप्त को अर्पण करके देवसेना ने उसे अपने उपकारों के बोझ से दबा दिया है और इस प्रकार वह विवश होकर अवश्य ही प्रतिदान के रूप में अपना प्रेम देवसेना को देगा—ऐसा विचार कर विजया देवसेना को अपना शत्रु समझ बैठती है। फलतः वह स्कंदगुप्त और देवसेना के विरुद्ध और भटार्क तथा अनंतदेवी के अनुकूल वेग से दौड़ पड़ती है। उसके इस कार्य-व्यापार का परिणाम यह होता है कि स्कंदगुप्त की प्रेम की मधुर भावनाएँ उसकी ओर से आहत होकर एकमात्र अधिकारिणी देवसेना की ओर बढ़ती हैं। स्थिति भी इसके अनुकूल आ ही जाती है। देवसेना के वध किए जाने की बात स्कंद को ज्ञात हो जाती है और वह ठीक अवसर पर पहुँचकर उसे बचाता है। वह भयभीत दशा में स्कंद का आलिंगन करती है। वहीं स्कंदगुप्त को व्यक्त रूप में यह मालूम

होना है कि देवसेना उससे प्रेम करती है। इस अवसर पर मृत्युकाल समीप समझ कर ही वह अपना अंतस् खोलती है, अन्यथा आगे चलकर वह कभी स्कंद से प्रेम की चर्चा करके उसका अपमान नहीं होने देती। प्रेम-ज्वर पर कठोर नियंत्रण करती रहती है। दूसरी ओर विजया भटार्क के साथ रहकर युवराज पुरगुप्त का मन-बहलाव करती दिखाई देती है।

भारतीय पद्धति से चौथे अंक में नियताप्ति होनी चाहिए। फल की प्राप्ति नियत—निश्चित हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा स्पष्ट दिखाई नहीं देता। उसका प्रच्छन्न प्रतिपादन अवश्य है, परन्तु जितनी सुंदर पाश्चात्य निगति दिखाई पड़ती है उतनी भारतीय नियताप्ति नहीं। स्कंदगुप्त का एकाकी और निःसहाय रूप में बचे रहना, संपूर्ण धर्म-संघों का विरुद्ध हो जाना, उसकी माता देवकी की मृत्यु, समस्त साधनों का विशृंखल होना और सामरिक शक्ति का टूट जाना निगति का रूप दिखाता है। कुछ स्थितियाँ ऐसी अवश्य आई हैं जिनसे हम यह समझ ले सकते हैं कि अंत अनुकूल होगा। इस अंक का आरंभ ही विरोधियों में फूट की कथा कहता है। भटार्क को लेकर, विजया और अनंतदेवी में, विरोध होता है। शर्वनाग की बातचीत से विजया और भी प्रभावित होती है और देश के कल्याण में निरत होना चाहती है। उधर अपनी माता की फटकार और राजमाता देवकी की मृत्यु से भटार्क की आँखें कुछ खुलती हैं; वह निश्चय करता है कि अब वह संघर्ष से अलग रहेगा। इस प्रकार विरोधी दल की फूट, भटार्क की मनोवृत्ति में मङ्गल का प्रवेश और स्कंदगुप्त आदि कुछ वीरों का बचे रहना ही नियताप्ति का सूचक है। इसी आधार पर उज्ज्वल भविष्य की आशा निश्चित होती है।

प्रेम के क्षेत्र में भी परिवर्तन है। विजया पुनः एक बार स्कंद की ओर बढ़ती है। उसके विचारों में परिवर्तन होता है, परंतु उस समय तक स्कंदगुप्त उसकी ओर से असफल होकर देवसेना के प्रति अपना दायित्व स्थिर कर लेता है। हूण से त्रस्त होकर जिस समय देवसेना सहायता की पुकार लगाती है उस समय स्कंद पूरी तत्परता से अपने सच्चे मित्र बंधुवर्मा की धरोहर को बचाने के लिए दौड़ता है। नाना प्रकार के दायित्वपूर्ण व्यापारों में निरत रहने से स्कंद के ऊपर अभी तक जो एक प्रकार की आत्म-विस्मृति छाई हुई थी, इस घटना से वह

भाग खड़ी होती है और उसमें विजया के प्रति विरक्ति और देवसेना के प्रति दायित्वपूर्ण अनुरक्ति की स्थापना हो जाती है।

नाटक का पंचम अङ्क सुंदर और प्रभावशाली है। उसमें समष्टि-प्रभाव अथवा प्रभावान्विति की स्थापना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यदि भटार्क की देश रक्षा के व्रत की सूचना और साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्नों को एकत्र करने वाले पर्णदत्त का संकल्प चतुर्थ अङ्क में आ जाता तो नियताप्ति का सुंदर रूप खड़ा हो गया होता; परन्तु नाटककार इन्हीं साधनों के द्वारा फल-प्राप्ति कराना चाहता है। अतएव उसने इनको निर्वहण संधि में रखा है। विजया का रत्नागार लेकर भटार्क पवित्र उत्साह से नवीन सेना का संकलन प्रारंभ करता है। अन्त में आकर विरोधियों का एक गढ़ और टूटता है। प्रख्यातकीर्ति एवं धातुसेन के प्रयत्न से अनंतदेवी और धर्म-संघों में भी अनबन हो जाती है। इस प्रकार विरोधी दल के सभी अवयव दुर्बल हो जाते हैं। उधर पर्णदत्त की साधना से साम्राज्य के सभी बचे रत्न एकत्र होकर स्कंदगुप्त की छत्रछाया में एक बार पुनः आर्यावर्त की रक्षा का उद्योग करते हैं। इस बार का उद्योग सफल होता है। खिंगिल बन्दी किया जाता है; परन्तु सिंधु के इस ओर के पवित्र देश में न आने का पणबन्ध लेकर स्कंदगुप्त उसे मुक्त कर देता है। यह तो आर्यावर्त और उसके गौरव की रक्षा हुई। दूसरी ओर युद्धक्षेत्र ही में पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर वह गृह-कलह और कौटुंबिक अशांति को भी पूर्ण रूप से मिटा देता है। रस-निष्पत्ति का यह भव्य रूप अन्त में बड़ा ही प्रभावोत्पादक है।

फल-प्राप्ति का यह सामाजिक रूप स्कन्दगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से सर्वथा पृथक् है। वह विरागी राष्ट्रोद्धारक अन्त में अपने सामाजिक अनुष्ठान में पूर्ण सफल होकर भी व्यक्तिगत रूप में सर्वथा दरिद्र ही रह जाता है। विजया से तो यदि स्वर्ग भी मिले तो वह लेने को तैयार नहीं और देवसेना प्रतिदान में उसका प्रेम स्वीकार कर मालवराज के सम्मान को गिराना नहीं चाहती। स्कन्दगुप्त पर अपने जीवन को अर्पित करके भी वह उसके प्राप्य में भाग नहीं लेना चाहती। ऐसी अवस्था में हतभाग्य स्कन्दगुप्त अकेला' ही रह जाता है। मानव-जीवन का यह कठोर वैषम्य उसकी व्यक्तिगत कथा का मूल भाव है

अर्थप्रकृति

कार्य की अवस्थाओं के साथ अर्थप्रकृतियों का विनियोग भी स्पष्ट रूप से होता गया है। आरम्भावस्था में ही बीज अर्थप्रकृति का स्थापन हो गया है। इस अर्थप्रकृति का आरम्भ प्रथम दृश्य के उस स्थल पर दिखाई पड़ता है जहाँ स्कन्दगुप्त के पूछने पर कि 'अधिकार का उपयोग करें! वह भी किस लिए!' पर्णदत्त ने अधिकारयुक्तवाणी से उत्तर दिया है—'किस लिए! त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, शिशुओं को हँसाने के लिए, सतीत्व के संमान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए। आपको अधिकारों का उपभोग करना होगा'। इसी स्थल से फलाधिकारी उदात्त कार्य-व्यापारों की ओर संलग्न हुआ है। अधिकार की मर्यादा ही उस कार्य का बीज रूप है जिसकी सिद्धि के लिए सब व्यापार किए गए हैं। मुख्यफल का हेतु यह कथाभाग क्रमशः वहाँ तक विस्तृत होता जाता है जहाँ स्कन्दगुप्त के अवंती पहुँचने की सूचना मिलती है; अर्थात् प्रथम अंक का वह स्थल जहाँ मातृगुप्त अत्याचार में निरत हूणों को आतंकित करता है और सहसा महाराजपुत्र गोविंद-गुप्त के आ जाने से हूण भाग जाते हैं। अन्तिम दृश्य में बिंदु अर्थ प्रकृति का आरम्भ हो जाता है क्योंकि मुख्य कथा-वस्तु अविच्छिन्न बनी ही रहती है और अवांतर, जो मालव-विजय का प्रसंग है, वहाँ अग्रसर होता दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात् अवांतर कथा तो उत्तरोत्तर अग्रसर होती जाती है और आधिकारिक कथा भी बराबर चलती रहती है। इस प्रकार बिंदु का प्रसार तृतीय अङ्क के प्रथम दृश्य की समाप्ति तक चलता है। यहाँ तक आकर कथाभाग के बीज का पूरा-पूरा विस्तार हो जाता है और इसके उपरांत फिर किसी नवीन पात्र अथवा नवीन ढङ्ग के व्यापार का योग नहीं आता। पताका अर्थप्रकृति के रूप में बंधुवर्मा का प्रसंग है। जहाँ से यह प्रसंग आरंभ हुआ है वहीं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका अपना कोई भिन्न लक्ष्य नहीं है। फलाधिकारी के मुख्य कार्य-व्यापार में ही बंधुवर्मा साथ देता जाता है और उसकी सिद्धि का सर्वोत्तम साधन बना हुआ निरंतर उद्योगशील दिखाई पड़ता है। यह प्रसंग जाकर गर्भ संधि के बीच में बंधुवर्मा की मृत्यु के साथ ही समाप्त होता है। इस प्रसंग से संबद्ध देवसेना और

भीमवर्मा अवश्य ही आगे तक जीवित रहते हैं; परंतु पताका नायक की समाप्ति के साथ ही उसके द्वारा आरंभ किया हुआ व्रत समाप्त हो जाता है। प्रकरी रूप में प्रसंगागत कई छोटे-छोटे वृत्त आए हैं, जैसे शर्वनाग, धातुसेन, मातृगुप्त इत्यादि के प्रसंग। नाटक का मुख्य कार्य है गुप्त साम्राज्य की विचलित लक्ष्मी को संपन्न और निरापद बनाना। इसीलिए सब प्रयत्न और प्रयास एकत्र किए गए हैं। अतएव इस कार्य के अनुकूल स्थिति जहाँ से उत्पन्न होने लगी है वहाँ से कार्य अर्थप्रकृति का आरंभ हो जाता है। विरोधी दल का नेता भटार्क जहाँ यह निश्चय करता है कि सब भूलकर, अब स्कंदगुप्त की छत्रछाया में राष्ट्र के उद्धार में लगूँगा और कहता है— (स्कंद के सामने घुटने टेककर) 'श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो। जैसी आज्ञा होगी वैसा ही करूँगा'। वहीं से यह अर्थप्रकृति आरम्भ हो जाती है। कार्य की पूर्णता वहाँ आती है जहाँ खिंगिल को परास्त कर स्कंदगुप्त पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाता है। इस प्रकार आक्रमणकारियों से आर्य-राष्ट्र का पूर्ण उद्धार होता है और अंतःकलह के मूल कारण का भी नाश हो जाता है।

संधियाँ

उक्त बीज अर्थप्रकृति की उत्पत्ति के साथ ही स्कंदगुप्त मालवदूत को आश्वासन देता है—'दूत! केवल संधि-नियम ही से हम बाधित नहीं है, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त पुष्यमित्रों की गति, समस्त सेना लेकर रोकेंगे। अकेले स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए संनद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते, मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।' इस पर पर्णदत्त कहता है—'युवराज़, आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ। कोई चिंता नहीं ; गुप्त साम्राज्य की लक्ष्मी प्रसन्न होगी'। यहीं से मुख संधि का आरम्भ मानना चाहिए। आरंभ नामक अवस्था के साथ बीज अर्थप्रकृति की उत्पत्ति इस स्थल पर दिखाई पड़ती है। यहीं निश्चय का बोध होता है कि आगे क्या क्रम चलेगा। 'मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थ-रससंभवा 'के अनुसार आगे कार्य-व्यापारों के द्वारा विविध भावों की भी उत्पत्ति होती चलती है, इसका विस्तार प्रथम अंक के समाप्ति-स्थल तक चलता है। जहाँ हूण परास्त होते हैं, वहाँ से प्रतिमुख संधि का

आरंभ हो जाता है, क्योंकि फिर तो मुख संधि में दिखलाए हुए बीज का लक्ष्य-अलक्ष्य रूप में उद्भेद प्रारंभ हो जाता है। हूणों को पराजय और राज्याभिषेक प्रसंग में, फलप्राप्ति विषयक बातें हैं और तुरंत ही फिर प्रपंचबुद्धि के प्रपंच में पड़े हुए शर्वनाग और भटार्क की कुचक्र-रचना से फलावरोध दिखाई पड़ने लगता है। महादेवी की हत्या की योजना और फिर उसका बचना, राज्याभिषेक में जयमाला का विरोध करना और फिर अनुकूल हो जाना इत्यादि बातें बीज की लक्ष्यालक्ष्य उद्भेदक ही तो हैं। इस स्थिति का विस्तार वहाँ तक चलता है जहाँ स्कंदगुप्त देवसेना को प्रपंचबुद्धि के चंगुल से छुड़ाता है। मगध में अनंतदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क का जो संमेलन होता है उसमें गर्भ संधि का आरंभ हो जाता है, क्योंकि फिर तो क्षण-क्षण पर बीज अथवा फल का आविर्भाव और तिरोभाव होने लगता है और कुतूहल की तीव्रता बढ़ उठती है। अनंतदेवी और भटार्क के कारण फलप्राप्ति में आशंका उत्पन्न होती है और स्कंदगुप्त के प्रयत्नों को देखकर आशा का उदय होने लगता है। यह द्विधा की अवस्था चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य तक चली है, अतएव वहीं गर्भ संधि की समाप्ति माननी चाहिए। इसी अंक में आगे चलकर विचित्र अवस्था में स्कंदगुप्त का जो प्रवेश होता है, वह विमर्श संधि का स्थल है। यह विमर्श विपत्तिमूलक है। विपत्ति में पड़ा हुआ प्राणी जिस प्रकार अनुभव करता है उसी रूप में स्कंदगुप्त दिखाई पड़ता है। 'कर्तव्य विस्मृत, भविष्य अंधकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनंत सागर का संतरण है, अवलंब दो नाथ !' विपत्ति में पड़े हुए की यह विपन्नावस्था कुछ दूर तक चलती है। इस बीच में विपक्षी कुछ दुर्बल होने लगते हैं। उनमें पश्चात्ताप का उदय होता है। इस कारण जब भटार्क भविष्य में सुधार के लिए कृतनिश्चय होकर सद्भाव से स्कंदगुप्त के पास आता है तब इस विपत्तिकाल की समाप्ति होती है। वहाँ से आगे तो फिर निर्वहण संधि आरंभ हो जाती है, क्योंकि धीरे-धीरे विरोधी वर्ग के लोग या तो मर जाते हैं या अधिकारी नायक के अनुकूल होने लगते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर फल-प्राप्ति समीप आने लगती है। विजया आत्महत्या कर लेती है। भटार्क स्कंदगुप्त के अनुकूल हो जाता है, अनंतदेवी और पुरगुप्त बंदी कर लिए जाते हैं। अंत में खिंगिल की भी पराजय होती है।

पात्र-चरित्र

चरित्रांकन की पद्धति के विचार से स्कंदगुप्त नाटक में कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। नाटककार ने मनुष्य की तीन विभिन्न स्थितियों और वृत्तियों का जैसा स्वरूप अपने अन्य रूपकों में उपस्थित किया है उसी प्रकार इसमें भी है। इस व्यावहारिक संसार में हमें, शुद्ध मानव—अपने अच्छे और बुरे रूपों से युक्त, राक्षस – अशुद्ध और असत् मूर्ति और देवता—आदर्श के सच्चे प्रतिनिधि—दिखाई पड़ते हैं। उसी प्रकार उनमें सत्-असत् मनोवृत्तियाँ भी काम किया करती हैं; परन्तु राक्षस कभी प्रबल पड़ता नहीं दिखाया गया है। इस विषय में 'प्रसाद' भारत की शुद्ध आध्यात्मिकता का ही प्रतिपादन करते हैं। मंगल विकृत होकर कल्याण का साधन नहीं बन सकता। इसीलिए 'प्रसाद' कुछ पात्रों को दानववृत्ति के कारण दुष्ट मार्ग में पड़ते दिखाकर भी भय, प्रेम, आत्म-शोधन, उपदेश इत्यादि के कारण उनमें परिवर्तन दिखाते हैं। भटार्क, अनंतदेवी, प्रपंचबुद्धि और विजयादि की सृष्टि और परिवर्तन इसी आधार पर है। पात्रों की बहुलता में नाटककार ने जिन यथार्थ मनुष्यों के रूप खड़े किए हैं वे प्रकृत और विशेष अनुरंजनकारी हैं, जैसे—शर्वनाग और जयमाला। इनके अतिरिक्त जो देवता हैं वे प्रिय, मनोहर, पूज्य आदर्शरूप तो हैं परंतु साथ ही हम से बहुत दूर नहीं हैं। इस प्रकार का देवत्व आकस्मिक नहीं नैमित्तिक है, इसलिए अयथार्थ और बुद्धि के प्रतिकूल नहीं ज्ञात होता। स्कंदगुप्त, देवसेना, पर्णदत्त और बंधुवर्मा उदात्त चरित्र के आदर्श चित्र हैं, पर जीवन-द्वंद्वों के अंतराल से चल रहे हैं। अतएव उनमें विशेष अलौकिकता पुंजीभूत नहीं दिखाई पड़ रही है।

'प्रसाद' के नाटक प्रायः प्रधान पात्रों से ही आरंभ होते हैं और उनके जीवन की मूल प्रेरक वृत्ति का अनुकथन आरंभ में ही कर दिया जाता है। यह व्यक्ति-वैलक्षण्य का सूत्र है। इसी के सहारे हम व्यक्ति के समस्त कार्य-व्यापारों की व्याख्या करते हैं। सुरमा की अपरितृप्त वासनाएँ, अजातशत्रु की क्रूरता, स्कंदगुप्त की विरागभावना और चाणक्य के दायित्वपूर्ण गांभीर्य का परिचय आरंभ में ही मिल जाता है। सत्य बात तो यह है कि नाटक में चरित्र-विकास दिखाने का अवसर अधिक नहीं मिलता, इसलिए आरंभ से ही उस मूल भित्ति का आभास आवश्यक

होता है जिसके ऊपर चरित्र का भवन निर्मित होता है। इस शैली का चरित्रांकन अंत में उत्पन्न होनेवाले समष्टि-प्रभाव का प्राण होता है। 'प्रसाद' अपने उदात्त पात्रों में अन्य गुणों के साथ मर्यादापालन का भाव अवश्य दिखा देते हैं। इसमें उनकी सच्ची भारतीयता प्रकट होती है। राज्यश्री, मल्लिका, देवसेना, बुद्धदेव और स्कंद इत्यादि के आधार पर मर्यादा का बड़ा ही भव्य रूप खड़ा किया गया है। उनके नाटकों में पुरुषों और स्त्रियों के कार्य और भाव-व्यापारों का तारतम्य अच्छा दिखाया गया है। जैसे एक ओर पुरुषों में कर्म, न्याय, दायित्व और शक्ति की प्रधानता रहती है उसी प्रकार स्त्रियों में सेवा, ममत्व और त्याग की। जैसे एक ओर दुष्ट पुरुष-पात्रों में दंभ, उच्छृंखलता और महत्त्वाकांक्षा दिखाई गई है उसी प्रकार दूसरी ओर दुष्टाओं में अनुदारता, ईर्ष्या, द्वेष और चंचलता।

'प्रसाद' के नाटक प्रायः उद्देश्यपूर्ण हैं। अतएव उनके पात्रों के संमुख एक लक्ष्य रहता है। इष्ट-साधन में संलग्न पात्रों का एक दल होता है। इन दलवालों की भी वर्गगत कुछ विशिष्टता होती है, जैसे, सत्साहस, प्रेम, गांभीर्य। विरोधी दल अपनी दुर्बलताओं के कारण सर्वप्रिय लक्ष्य का विरोध करता है। विरुद्ध वर्गवाले अधिकांश संकुचित स्वार्थ और दंभ से प्रेरित होकर कुचक्र की रचना करते हैं। स्कंदगुप्त नाटक में भी दो विभाग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। स्कंद, पर्णदत्त, बंधुवर्मा, देवसेना प्रभृति पात्र इष्ट-साधक हैं और अनंतदेवी, भटार्क, पुरगुप्त और प्रपंचबुद्धि इत्यादि इष्ट के विरोधी।

स्कंदगुप्त

इस नाटक का नायक स्कंदगुप्त है। वह सच्चा कर्मवीर और उदात्त चरित्र का व्यक्ति है। उसमें कुल-शील की उत्तमता के साथ शांत प्रकृति और गंभीर भावनाओं का सुंदर योग प्राप्त होता है। देवोपम मानव-चरित्र की संपूर्ण विभूतियों का उसमें अच्छा समवाय है। वह अपनी निर्लिप्त कर्मवीरता के बल पर हमारी श्रद्धा और भक्ति का आलंबन बन जाता है। उसको देखकर इतिहास तो भूल जाता है, परंतु उसका व्यक्तित्व हमारे मानस-लोक में अमर हो उठता है। नाटककार ने उसमें पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधारणीकरण का सुंदर समन्वय

किया है। संपूर्ण नाटक में उसका व्यक्तित्व प्रधान है। अन्य सभी पात्र उसके साथ चलते, साथ विरत होते हैं अथवा उसके चरित्र से प्रभावित रहते हैं।

स्कंदगुप्त वीर, निर्भीक, स्वावलंबी, उदार, कर्त्तव्यपरायण और व्यवहारकुशल व्यक्ति है। आरंभ में उसका संपूर्ण तेज विरक्तिमूलक भावनाओं से आच्छन्न दिखाई पड़ता है, परंतु यह विरक्ति उसकी व्यक्तिगत विशेषता है। उसने कभी स्कंद के सामाजिक जीवन की प्रकृत धारामें किसी प्रकार की उदासीनता नहीं उत्पन्न होने दी। इसके जो कारण हैं वे सब मानसिक हैं। विचार-गांभीर्य के कारण एक तो स्कंद यों ही शांत स्वभाव का है, दूसरे गुप्त-साम्राज्य का उत्तराधिकार-नियम भी उसे चिंतित बनाए रखता है। आगे चलकर भी वह जीवन की उग्र परिस्थितियों से निरंतर युद्ध करने के कारण शांत होकर अपने जीवन में जब प्रेम की शीतल छाया का भी अभाव ही पाता है तब उसकी यह विरक्ति भी समय-समय पर कुछ उद्दीप्त हो उठती है। परंतु इसका यह उद्दीपन व्यक्ति और समाज के लिए किसी प्रकार घातक नहीं बनता, बल्कि स्कंद के व्यक्तित्व को देवोपम बनाने में सहायक होता है। देवसेना की ओर से भी जब वह प्रेम का भौतिक आश्रय नहीं पाता तो वही विरक्ति मंगलमय हो उठती है। तभी वह त्याग की उस उच्च भूमिका में पहुँच सका है जहाँ असाधारण पराक्रम से विजित राष्ट्र को एक तिनके की भाँति पुरगुप्त को दान कर देने की क्षमता उसमें उत्पन्न हो गई है। उस स्थल पर पहुँचकर उसका सच्चा शिवत्व देखने में आता है।

स्कंद में महत्त्व की आकांक्षा नहीं है। उसके जीवन में जहाँ भी पुरुषार्थ और उद्योग दिखाई पड़ता है वह आसक्तिहीन कर्तव्य-पालन के रूप में है। आरंभ में वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन ही रहता है। अधिकार-सुख को मादक और सारहीन समझता है। अपने युवराजत्व का कोई विशेष दर्प उसमें नहीं दिखाई देता। वह अपने को साम्राज्य का सैनिक मात्र समझता है। उसका यह विराग व्यक्तिगत एवं ऐकांतिक है। कहीं भी वह बाहरी लोगों के संमुख प्रकट नहीं होता। विराग के अंतरतम प्रदेश से उभरते ही उसका वह सामाजिक स्वरूप सामने आ जाता है जिसमें सक्रियता, क्षात्रतेज और आत्मविश्वास भरा है। दूत के मुख से मालव पर हूणों के आक्रमण की सूचना और सहा-

यता की प्रार्थना सुनकर उसमें कर्तव्य-ज्ञान और क्षात्रधर्म का उदय होता है। प्रगाढ़ आत्मविश्वास और उदग्र सत्त्व के बल पर ही स्कंद दूत को आश्वासन देता है—'दूत! केवल संधि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं हैं, किंतु शरणागत की रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए संनद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते जी, मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा'। इस निश्चय में स्वावलंबन का भाव भरा है, क्योंकि स्कंद को भलीभाँति ज्ञात है कि 'राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है'। इसके उपरांत तड़ित्-वेग से वह अवंती-दुर्ग में ठीक अवसर पर पहुँच कर अतुल निर्भीकता और अपार पौरुष का प्रदर्शन करके शक और हूणों को पराजित करता है। इस रूप में वह आर्य-साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही दिखाई देता है।

यों तो स्कंदगुप्त में उदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान हैं; परंतु रह-रहकर उसका आंतरिक विराग जाग उठता है और उसे अपने संघर्षपूर्ण कार्यकलाप पर चिंता होती है। वह सोचने लगता है—'सम्राट् कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिये। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे... , करना क्या है। इस विराग-भाव में भी उसके विचार सदैव उन्नत ही रहते हैं'। वह चक्रपालित से कहता है—'संसार में जो सब से महान् है वह क्या है। त्याग! त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है'। अतएव अपने जीवन का साध्य वह इसी को समझता है। उसे अधिकार, राज्य और युद्ध में विशेष तत्त्व नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी वह पराङ्मुख नहीं होता।

उसे अपनी माता से अनन्य प्रेम है। यह उसकी ललक और भक्ति से सर्वत्र ध्वनित होता है। ठीक अवसर पर पहुँचकर कुचक्रियों से वह अपनी माता के प्राणों की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त ये कुचक्री सदैव उसे कष्ट देते हैं फिर भी वह अपने उद्वेग का संयमन करता है। जिस अलौकिक दया–उदारता से वह उन लोगों को क्षमा करता है और पुरगुप्त को इस जघन्य अपराध पर भी मगध का शासक बनाता है उससे उसमें उच्च कुल-शील का भव्य स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। उसकी इसी

विराग-मिश्रित उदार वीरता पर मुग्ध होकर बंधुवर्मा कहता है—'उदार वीर हृदय, देवोपम सौंदर्य ....अंतःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवनपूर्ण ज्योति है'। क्षमादान में वह सर्वत्र समभाव से उदार है। उसके इस व्यापक क्षमा-भाव की मूल भित्ति आत्मविश्वास और चित्त की उदारता है। देवकी के प्राणघात की चेष्टा करनेवाले शर्वनाग और भटार्क को भी वह क्षमा कर देता है। अंत में जाकर खिंगिल ऐसे क्रूर शत्रु को भी वह छोड़ देता है। उसके आचरण की यही दिव्यता चरित्र के मंगलविधायक अलौकिक भारतीय शील का प्राण है। अतुल पुरुषार्थ के साथ यह उदार क्षमाभाव सोने में सुगंध है।

अनेकानेक आदर्श गुणों के साथ-साथ स्कंद व्यवहार-कुशल भी है। स्थिति की गहनता समझकर अनुकूल आचरण का पूरा उद्योग करता है। उसकी व्यवहार-बुद्धि का रूप दो स्थलों पर दिखाई पड़ता है। गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम को स्कंदगुप्त की उदासीनता का कारण बताने पर जिस समय चक्रपालित को पर्णदत्त डाँटता है, उस समय स्कंद, चक्र की वकालत करते हुए कहता है—'आर्य पर्णदत्त ! क्षमा कीजिए। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता'। दूसरा स्थल वह है जहाँ युद्धभूमि में चक्रपालित ने उसे भटार्क की ओर से सावधान रहने और उस पर विश्वास न करने की सलाह दी है। इस अवसर पर स्कंद का यह उत्तर देना—'मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं; परंतु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा'—उसकी व्यवहार-कुशलता का बोधक है।

स्कंदगुप्त में देश-प्रेम का रूप बड़ा ही दिव्य है। निर्लिप्त रूप में निरंतर उसकी यही चेष्टा रहती है कि आर्य-साम्राज्य का कल्याण हो। उसका गौरव किसी प्रकार भी विलुप्त न होने पाए। इस साम्राज्य की मंगल-कामना के मूल में उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं है। उसके द्वारा स्कंद न तो अपना स्वत्व चाहता और न अधिकार की ही उसे लालसा है। उसकी यह भी इच्छा नहीं कि वही शासन करे। जिस समय भटार्क की पैशाचिक प्रतारणा के कारण विदेशी आक्रमणकारी सफल होते हैं और कुभा के रणक्षेत्र में स्कंद की सेना असफल होती है उस समय स्कंदगुप्त शक्तिहीन होकर भविष्य की बात सोचने-विचारने लगता

है। उसे अपने दुखों की चिंता नहीं होती और संसार के आक्षेप-संकेतों की भी लज्जा नहीं होती। उसे केवल ग्लानि इसी बात की है कि 'यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था। आर्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था। हृदय काँप उठता है। देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय-वृक्ष—गुप्तसाम्राज्य—हरा-भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो'। इस कथन में कितना उदार और सच्चा देश-प्रेम है। केवल स्कंदगुप्त ऐसा कर्मठ वीर ही इतने निर्लिप्त राष्ट्र-प्रेम का स्वरूप संमुख उपस्थित कर सकता है। उसके उक्त उद्‌गार परिस्थिति से प्रेरित नहीं हैं। इस प्रकार की तटस्थ उदारता उसके जीवन का मुख्य अंग है, अन्यथा अतुल पराक्रम से समार्जित साम्राज्य पुरगुप्त को क्षण भर में वह कदापि न दे पाता। उसका देश-प्रेम किसी की सहायता अथवा सैन्यबल पर आश्रित नहीं है। उसकी मूल भित्ति आत्म-विश्वास-पूर्ण, निःस्वार्थ और मंगलमयी वह अंतःप्रेरणा है जिसके कारण स्कंद का व्यक्तित्व इतना सुंदर हो उठा है। शुद्ध कर्म-योगी की भाँति उसमें विश्वास है कि 'मैं कुछ नहीं हूँ, उसका (विश्वनियंता का) अस्त्र हूँ—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ'। शुद्ध बुद्धि से प्रेरित सच्चे कर्मनिष्ठ की नाईं वह जानता है कि न तो किसी से उसकी शत्रुता है और न निज की कोई इच्छा है। इस देश-प्रेम और आत्म-विश्वास से भरी कर्तव्य-भावना का उत्तम उदाहरण वहाँ मिलता है जहाँ उसने कहा है—'भटार्क! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा'। पुरगुप्त को युवराजत्व का टीका लगाते समय यदि कोई सत्कामना उसके मन में उत्पन्न होती है तो केवल इतनी ही कि 'देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो'।

स्कंदगुप्त केवल आदर्श देवता ही नहीं है। हम मानवों के समान उनमें भी अभिमान का रूप है। भले ही उसका वह संमान-भाव उसके जीवनव्यापी वैराग्य-भाव से आक्रांत हो; परंतु उसके सच्चे मित्र बंधुवर्मा को इसका स्पष्ट बोध हो जाता है। उसने विचार किया कि स्कंद के अंतःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। इस आलोचना का स्पष्टीकरण स्वयं स्कंदगुप्त के संवादों से हो जाता है जब स्कंद को सब प्रकार से निरीह एवं एकाकी पाकर विजया उसके संमुख अपना प्रेम

प्रस्ताव रखते हुए अपने रत्नागार का प्रलोभन देती है और उस असहाय अवस्था में इस द्रव्य से राष्ट्रोद्धार के अनेक उपायों की संभावना भी है फिर भी इस प्रस्ताव के मूल में जो हीन वृत्ति बैठी है उसको वह परख लेता है। उस समय उसका आत्माभिमान जागता है और वह निरादर-पूर्वक उत्तर देता है—'साम्राज्य के लिए मैं अपने को नहीं बेंच सकता'। अर्थलोभी हूण दस्युओं को घूस देकर मालव और सौराष्ट्र को स्वतंत्र कराने में उसके आत्मसंमान को कड़ा धक्का लगेगा इसको वह अच्छी तरह जानता है और यह भी समझता है कि इस प्रकार के किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने में उसका आजीवन-पालित व्यक्तित्व ही नहीं रह जाएगा। अतएव स्पष्ट रूप से वह इसे अस्वीकार करता है—'सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से, मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता'। इस कथन में जो प्रकृत गर्व और आत्मसंमान का भाव निहित है वह स्कंद के व्यक्तित्व को यथार्थ भूमि पर ला खड़ा करता है।

देवसेना

देवसेना का चरित्र आदर्श होने पर भी व्यक्तित्व से आपूर्ण है। उसकी सारी अलौकिकता—त्याग, देश-प्रेम, सेवा, सहिष्णुता और रहस्योन्मुखी भावनाएँ—गांभीर्य से आच्छादित दिखाई पड़ती हैं। गांभीर्य की सहयोगिनी दृढ़ता भी उसमें उच्चकोटि की है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य में, जब वह हमारे संमुख पहली बार आती है तभी, 'देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का विचार' उसमें दिखाई देता है। वह अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग है। अतएव वह केवल कल्पना-लोक की वस्तु नहीं है और अँगरेज कवि शेली की चिड़िया की भाँति यथार्थ जंगत् से सर्वथा परे रहकर आकाश में ही विचरण नहीं करती, वरन् वर्ड्सवर्थ की कल्पना की भाँति धरातल पर स्थित अपने नीड़ की भी सुध बनाए रहती है।

उसका चरित्र अपने ढंग का निराला है। जगत् के व्यावहारिक जीव से उसमें भिन्नता है। उसकी विचारधारा ही कुछ ऊँची भूमिका पर बहती है। संगीत की वह अनन्य प्रेमिका जीवन और जगत के कण-कण में एक लय और एक तान देखती है। वह भीतर-बाहर एक सी अखंड है प्रत्येक स्थिति में निश्चिंत रहनेवाली वह रमणी अपनी ऐका-

तिक संपूर्णता में डूबी रहती है। उसके जीवन का आदर्श 'एकांत टीले पर, सब से अलग, शरद् के सुंदर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ, पारिजात वृक्ष' है। उसके व्यक्तित्व का स्वरूप समझने के लिए प्रथम तो ऐसे वृक्ष का अनुसंधान आवश्यक है। फिर उस वृक्ष की सभी विभूतियों का विहार देवसेना में देखना होगा। उसके जीवन की ऐकांतिकता और निरालापन अन्यत्र दुर्लभ है। वह अपने आंतरिक अद्वैत की मधुर अनुभूति से ही प्रेरित हुआ करती है। इसीलिए बाह्य जगत् में भी वह उसी एकरस संगीत का प्रसार पाती है। उसके लिए 'प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है × × पक्षियों को देखो, उनकी चहचह, कलकल, छल-छल में, काकली में, रागिनी है'। इसी आंतरिक समत्व के कारण वह विश्व के प्रत्येक कंप में एक ताल देखती है, युद्ध और प्रेम में संगीत का योग चाहती है। श्मशान से भी भयभीत नहीं होती, उसमें भी सत् एवं सुंदर का ही दर्शन करती है।

देवसेना की इस रहस्य-भावना के मूल में हृदय-पक्ष की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। इस विचार से देवसेना भावुकता की जीती-जागती प्रतिमा है। गांभीर्य का योग पाकर यही भावुकता रहस्योन्मुख बन गई है और प्रेम के क्षेत्र में पहुँचकर यही संयम, त्याग और दृढ़ता का मंगलकारी स्वरूप खड़ा करती है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य में स्कंदगुप्त को विजया की ओर आकृष्ट देखकर वह अनन्य प्रेमिका जाग सी पड़ती है। स्कंद के प्रति उसका जो अनुराग आगे से चला आता है वह इस स्थल पर पहुँचकर संपूर्णतः चेतन बनकर उठता है। वही प्रेम महत्तम की सृष्टि करने लगता है। भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता आसन जमाती है। वह अब स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म में आत्मसंतोष देखने लगती है। कुतूहल और रूप-चमत्कार के कारण ही क्यों न हो यदि एक बार भी स्कंद विजया की ओर खिंचता है तो देवसेना भावना से कर्तव्य को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर अपनी भौतिक लालसा एवं वासना को उस मार्ग से हटा लेती है। अपने प्रिय के सुख के लिए अपनी कोमलतम कामनाओं की आहुति दे देती है। इस मूक आत्म-समर्पण में देवत्व है। इस स्थल पर पहुँचकर देवसेना का रूप सामान्य मानव-भूमि से ऊपर उठता दिखाई देता है।

विद्रोहियों के साथ विजया को देखकर जिस समय स्कंदगुप्त आश्चर्य में पड़कर कहता है—'परंतु विजया, तुमने यह क्या किया'। उस समय देवसेना की धारणा निश्चय में परिणत हो जाती है—'आह ! जिसकी मुझे आशंका थी वह है। विजया ! आज तू हारकर भी जीत गई'। यहीं से उसके प्रेम की भौतिकता खंडित हो जाती है और उसमें मंगल और त्याग का आरंभ होता है। विजया का विद्वेष से भरा उपालंभ—'उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया'—पाकर उसके भीतर स्त्रीसुलभ आत्मसंमान उबल पड़ता है। वहीं वह अपने जीवन की इस जटिल समस्या को सुलझाकर अंतिम निश्चय पर पहुँच जाती है। 'अपना राज्य देकर देवसेना ने स्कंद का प्रणय खरीद लिया'—यह उसके और उसके प्रियतम के लिए मानहानि का विषय है। अतएव उसने अपने ऊपर पूरा विश्वास करके कहा—'देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती'। इससे उपरांत फिर तो अंत तक वह अपने वचनों पर दृढ़ बनी रहती है।

यहाँ से देवसेना में अंतर्द्वंद्व का स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है, क्योंकि उसके भीतर 'हाँ' और 'ना' का संघर्ष आरंभ होता है। जिस स्कंद का प्रेम उसके अंतर्जगत् को स्वर्ग बना रहा है और उसके घोर मानसिक विप्लव का एकमात्र कारण है उसी स्कंद को अपना सब कुछ देकर परिवर्तन में उससे कुछ भी नहीं लिया चाहती। केवल यही भावना कि 'मैंने उन्हें प्यार किया है' उसके संपूर्ण जीवन के लिए अमृत-पाथेय है। इसके अतिरिक्त उसके भीतर कोई भौतिक कामना नहीं है। फिर भी इस स्थूल विछोह में मचलन और कचोट की वेदना है जिसका नियंत्रण वह सदैव किया करती है। उसके कर्म और वचन से उसके हृदय की आँधी का आभास न लग जाए इसका कड़ाई से विचार करती रहती है। केवल एक बार अपनी सखियों से परिवेष्टित रहने पर उसके अंतस् का स्वरूप प्रकट हो सका है। 'मैंने उनसे (स्कंद से) प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है ×× आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ, बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनंत स्वर्ग का सृजन करेगा ×× जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी मैं संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है'। इतना ही तो देवसेना के प्रेम की गंभीरता का वाचक है। साथ ही प्राण-

संकट के समय, अपनी गर्दन पर खड्ग तना देखकर, अपने ईश्वर से एकमात्र यही कामना और याचना प्रकट करती है—'प्रियतम ! मेरे देवता युवराज ! तुम्हारी जय हो'। इसके उपरांत उसकी तपस्या आरंभ हो जाती है। फिर तो सच्चे कर्मनिष्ठ की भाँति वह निश्चय कर लेती है—'कूलों में उफनकर बहनेवाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा; परंतु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।' इस निश्चय में विवशता एवं करुणा के साथ निर्लिप्त उत्साह का अद्भुत संमिश्रण है। इसी समरसता में देवसेना का व्यक्तित्व है। चरित्र का यह निरालापन 'प्रसाद' की सर्वोत्तम उद्भावना है। जो इस सृष्टि को अलौकिक कहकर यथातथ्य अथवा यथार्थवाद के दम भरने का ढोंग करें उनके लिए देवसेना का केवल इतना ही कहना पर्याप्त है—'परंतु संसार में ही नक्षत्र से उज्वल किंतु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है'।

उसमें निर्लिप्त ममत्व और उत्साह भर रह जाता है। जिस समय भीमवर्मा ने उससे कहा—'सम्राट् ने तुम्हें बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है'। उसने केवल इतना ही कहा—'सम्राट् की महानुभावता है। भाई ! मेरे प्राणों का इतना मूल्य'। इसके अतिरिक्त जिस समय उसके संमुख स्कंद द्वारा आर्यसाम्राज्य के उद्धार की चर्चा की गई उसका उत्तर भी बड़ा संक्षिप्त और तटस्थ रूप का है—'मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई ! साहस चाहिए, कोई वस्तु असंभव नहीं'। इन उत्तरों में किसी प्रकार की आसक्ति या उल्लास नहीं दिखाई पड़ता। अंतस् का कठोर गांभीर्य प्रायः निर्जीव कर दिया गया है। यहाँ से लेकर अंत तक देवसेना में शुद्ध कर्मयोग ही मिलता है। अब उसकी दृष्टि स्व से सर्वथा पृथक् होकर परम की ओर बढ़ गई है।

'साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ। वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा और एकांतवास करूँगा........देवसेना ! किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो'। स्कंदगुप्त के ममत्व-भरे इस आत्मनिवेदन ने उसकी आध्यात्मिक लालसा परितृप्त कर दी, इससे उसके हृदय

की भूख शांत हो गई। परन्तु दृढ़ स्वभाव की वह गंभीर रमणी बहुत ऊँचे स्तर पर खड़ी होकर उत्तर देती है—'क्षमा हो सम्राट्! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परंतु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी × × इस हृदय में × × आह! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती'। इस उत्तर-प्रत्युत्तर में जहाँ एक ओर स्कंद में कर्तव्य और दायित्व से भरा ऐकांतिक प्रेम है वहाँ दूसरी ओर देवसेना में आत्मसंमान एवं अभिमानी भक्त की सी निष्काम उपासना है। कल्याण की साधना में दोनों साधकों का तुल्ययोग है।

मर्यादा और आत्मसंमान प्रिय होने के कारण अथवा दृढ़व्रत और स्वभावतः गंभीर होने के कारण देवसेना का बाह्य रूप भले ही कुछ कठोर हो गया हो परंतु भीतर प्रेम की मधुर भावना ने हृदय को रमणीय रूप दे रखा है। बाहर तो अवश्य ही नियंत्रण और संयम से भरे उक्त वचन निकले परंतु भीतर कामना का मधुर उच्छ्वास रह-रहकर सिर उठाता रहा। बाहर वह भले ही देवता का रूप बनाये रहती है, परतु भीतर मानव-भावनाएँ भी तरंगित होती रहती हैं। द्वंद्व का यही रूप देवसेना के व्यक्तित्व का प्राण है। 'हृदय की कोमल कल्पना! सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए अच्छी बात है'। इस पुकार मचाने में जो सुंदर और प्रकृत मानव है वह देवसेना को पाषाण-देवी होने से बचा लेता है। इस आदर्शोन्मुख यथार्थ में ही तो उसके चरित्र का विकास हुआ है। अंत में भी यही दिखाई पड़ता है कि वह केवल 'नंदन की बसंतश्री अमरावती की शची और स्वर्ग की लक्ष्मी ही नहीं' है वरन् मृत्युलोक की कामना एवं आशामयी मानवी भी है। स्कंदगुप्त को क्षोभ और दुःख से विह्वल देखकर वह 'मेरे इस जीवन के देवता' ही कहकर रुक नहीं जाती, आगे 'और उस जीवन के प्राप्य' भी कहती है। यही उसके चरित्र की विशिष्टता है।

देवसेना अपने ही में डूबी अनन्य प्रेमिका के रूप में ही रह गई हो ऐसी बात नहीं है। अपनी रहस्य-भावना और संगीत को लेकर केवल

कल्पना-लोक में ही विचरती रही हो यह बात भी नहीं रह जाता है। वह अपनी वर्गगत विशेषता का भी अच्छा प्रतिनिधित्व करती है। वह सच्ची क्षत्राणी के रूप में भी सामने आई है। आसन्न विपत्ति में निर्भीक रहकर अपने कुल की मर्यादा के लिए अपने कोमल शरीर को भी नष्ट कर सकती है। हूणों के आक्रमणकाल में छुरी लेकर अपने शरीर तथा अन्तःपुर की रक्षा में योग देती है। युद्ध से रंचमात्र त्रस्त अथवा उद्विग्न नहीं दिखाई पड़ती। उस समय भी उसमें स्वभावज शांति, गांभीर्य एवं भावुक निरालापन वर्तमान रहता है। अपने दायित्व का विचार कर दृढ़तापूर्वक अन्तःपुर की रक्षा में तत्पर होकर कहती है—'भइया ! आप निश्चिंत रहिए'।

इसके अतिरिक्त उसमें देश-प्रेम का बड़ा त्यागपूर्ण प्रसार दिखाई पड़ता है। देश की संमान-रक्षा में जिस सहिष्णुता, सेवा, त्याग और निष्ठा की आवश्यकता रहती है, उसमें वे सभी गुण वर्तमान हैं। आत्म-समर्पण-पूर्ण उदारता की उसमें कमी नहीं है। देश कल्याण के निमित्त राज्य-त्याग में जयमाला को हिचकते पाकर उसे उत्साहित करती है—'क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भइया को देखो ! कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र'। परंतु अंत तक जयमाला को अपने मंतव्य में स्थिर देखकर देश-भक्तों की मंडली में स्वयं भी मिल जाती है। राज-वैभव और आनंद-लालसा उसे विचलित नहीं करती। देश-रक्षा में संनद्ध वीरों की सेवा का कार्य स्वीकार कर लेती है। जयमाला को राज्य-भार देकर जाते हुए बंधुवर्मा से वह कहती है—'चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी'। तदनंतर फिर तो वह महादेवी की समाधि परिष्कृत करती और गाकर भीख माँगती दिखाई पड़ती है। अब वह राज-रूप से सर्वथा तटस्थ है। विलास और नीच वासना से भ्रष्ट साधारणजन भी उस पर कुरुचिपूर्ण व्यंग्य बोलते और परिहास करते हैं। यह दशा देखकर पर्णदत्त भले ही क्रुद्ध होता है परंतु वह महनीय आर्य बाला सहिष्णुता की पराकाष्ठा ही दिखाकर रह जाती है। नीचों की बातों का तनिक भी बुरा नहीं मानती। क्रुद्ध पर्णदत्त को समझाते हुए वह कहती भी है—'क्या है बाबा ! क्यों चिढ़ रहे हो। जाने दो, जिसने नहीं दिया उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया'। इस घोर संतोष और पवित्र सहिष्णुता के मूल में देश-प्रेम है। उच्च लक्ष्य की साधना में अपने-

पन को भूल ही जाना पड़ता है। वह भीख भी अपने लिए तो माँगती नहीं, माँगती है साम्राज्य के निरवलंब बिखरे हुए रत्नों की रक्षा के निमित्त। देश के लिए वह सब कुछ करने को प्रस्तुत है। देश-प्रेम से ही प्रेरित होकर वह स्कंदगुप्त के उस प्रस्ताव का विरोध करती है जिसमें उन्होंने एकांत में, किसी कानन के कोने में, उसे देखते हुए जीवन व्यतीत करने की इच्छा प्रकट की है। देश का एकमात्र सहारा, उसके निमित्त अपने पुण्य आचरण को छोड़ दे, इससे बढ़कर हीनता की बात उसके लिए और क्या हो सकती है। इसके अतिरिक्त अपने प्रियतम को देश-प्रेम ऐसे उदात्त कर्म से वह स्वयं विमुख करे यह असंभव ही है। उसने प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा—'मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परंतु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित नहीं रहेगी'।

पर्णदत्त

पर्णदत्त उन व्यक्तियों में है जो अपने निर्मल चरित्र की झलक मात्र दिखाकर मानव-हृदय को मुग्ध कर लेते हैं। संपूर्ण नाटक में केवल दो ही स्थलों पर उसके कार्य और चरित्र को देखने का अवसर मिलता है। वह गुप्त-साम्राज्य का प्रमुख योद्धा और सेनापति है। उसकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिंधु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उसकी वीरता की सराहना करते सुने जाते हैं। इस आज्ञाकारी सेवक ने वृद्ध होने पर भी गरुड़ध्वज लेकर आर्य चंद्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अभी तक उसके मन में यह वीरोचित कामना बनी है कि गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसके मान के लिए मर मिटे। गुप्त-साम्राज्य पर आपत्तियों के बादल मंडरा रहे हैं और कोई योग्य कर्णधार सामने नहीं आता यह देखकर पर्णदत्त बड़ा क्षुब्ध और अधीर हो रहा है। युवराज स्कंदगुप्त को राज्याधिकार की ओर से उदासीन पाकर वह और भी निराश हो जाता है। उसे अनेक प्रकार से उद्बोधन देता है, उत्साहित करता है और अंत में सच्चे हितेच्छु की भाँति उसी समय हृदय से प्रसन्न होता है जब स्कंद कहता है—'अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिये संनद्ध है'। गुप्त-साम्राज्य के हित के विरुद्ध अपने पुत्र तक को बोलता पाकर उसे डाँट देता है—'हम लोग साम्राज्य के सेवक

हैं। असावधान बालक ! अपनी चंचलता को विष-वृक्ष का बीज न बना देना'। इस साम्राज्य-हितेच्छा के अतिरिक्त वह शुद्ध वीर है, उसमें उत्साह है और अपने बाहुबल पर उसे बड़ा भरोसा है। युवराज से यह सुनकर भी कि 'अभी राजधानी से सहायता की कोई आशा नहीं है और इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है' उसके उत्साह में कोई कमी नहीं होने पाती। वह उसी प्रकार साहस बनाए रहता है और स्कंद से कहता है—'कुछ चिंता नहीं युवराज ! भगवान् सब मंगल करेंगे। चलिए, विश्राम करें।'

इसके उपरांत पर्णदत्त का फिर कुछ पता ही नहीं रहता। स्कंद के राज्यारोहण के अवसर पर इस बात की सूचना भर मिल जाती है कि वह सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्र-नीति की देखरेख में लगा है। इससे भी इतना तो अवश्य ही विदित हो जाता है कि ऐसे आनन्द के समय में भी वह तन्मय होकर अपनी ध्येय-प्राप्ति और कर्तव्य-पालन में तत्पर है। इस अवसर के बाद तो फिर वह भी देवसेना के साथ भीख माँगता दिखाई पड़ता है। जिस समय कुभा पार करते हुए ससैन्य स्कंदगुप्त प्रवाह में बह जाता है और उसके उपरांत कुछ दिनों तक संपूर्ण साम्राज्य की सैनिक स्थिति अश्रृंखलित हो जाती है उस समय इस वृद्ध सेनापति के संमुख केवल एक कर्तव्य रह जाता है कि वह टूटी-फूटी सेना की रक्षा करे और पुनः जब तक सुअवसर न आवे तब तक बचे-बचाए सैनिकों का जीवन-निर्वाह करता रहे। राज्यक्रांति और दारिद्र् के कारण अन्न के लाले पड़े हैं, लोग भूख से तड़प रहे हैं, ऐसी अवस्था में पर्णदत्त ने जो कार्य-भार अपने ऊपर लिया है वह मनुष्यता के नाते और राजनीतिक विचार से भी आवश्यक है। अपनी दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति का वह स्वयं उल्लेख इस प्रकार करता है—'सूखी रोटियाँ बचा कर रखनी पड़ती हैं। जिन्हें कुत्तों को देते हुए भी संकोच होता था। उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय। अक्षय निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ। क्योंकि उसके ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है। वे युद्ध में मरना जानते हैं, परन्तु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है'। उसे दुःख तो तब होता है जब देश की दुर्दशा होते देखकर भी देश के युवक विलासिता और वासनाओं में ही लिप्त दिखाई पड़ते हैं। फिर भी अपना कर्तव्य तो पालन करना ही पड़ेगा यह समझकर अपना

काम करता चलता है—'भीख दो बाबा, देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं, कुछ दो बाबा'।

इस स्थिति में उसे अपना जयजयकार भी प्रिय नहीं है, क्योंकि उसके लक्ष्य-साधन में वह किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकता है। वह तो देश की मुक्ति चाहता है जिसके लिए प्राणों का उत्सर्ग करने वाले वीरों की आवश्यकता है; अथवा द्रव्य चाहता है जिसके योग से वह अपनी सिद्धि प्राप्त कर सके। अतः जय ध्वनि से वह चिढ़ उठता है—'मुझे जय नहीं चाहिए, भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए, कोई देगा भीख में'। सच्चे हृदय की पुकार निष्फल नहीं जाती। उसे भीख माँगते हुए स्कंदगुप्त विक्रमादित्य सरीखे वीर मिल जाते हैं और उसके जीवन का चरम लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार पर्णदत्त आद्यंत सच्चे वीर योद्धा की भाँति साम्राज्य की हितकामना में लगा रहता है। संकट काल में अनेक विकट समस्याओं का सामना करता है, परन्तु अपने कर्तव्य-पथ से डिगता नहीं। वह सच्चा देशभक्त है।

बंधुवर्मा

बंधुवर्मा उन पात्रों में है जिसका संबंध कथानक के बीच से आरंभ होता है और कुछ काल तक योगवाही रूप में चलकर समाप्त हो जाता है। यों तो ऐसे पात्रों को प्रमुख स्थान नहीं मिलता, पर बंधुवर्मा में एक विशेषता है। उसके युद्ध में प्राण-विसर्जन कर देने के उपरांत भी उसकी शक्ति और प्रभाव जीवित बने रहते हैं। उसकी समाप्ति तो वस्तुतः उसी समय होती है जब उसके सहयोगी उस लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं जिसके लिए उसका जीवन समर्पित था। थोड़े काल के लिए ही इस भव में आकर बंधुवर्मा अमर हो जाता है। नाटक के वस्तु-विन्यास में उसकी चरितावली का एक चमत्कार है। उसकी उदारता और त्याग विशेष प्रकार के हैं। वह फल-प्राप्ति के प्रासाद की दृढ़ नींव बन जाता है। उसमें सच्ची क्षात्र-भावना का उज्ज्वल स्वरूप दिखाई पड़ता है।

विजया पर किया हुआ जयमाला का व्यंग्य उसे अप्रिय लगता है। अपने आश्रित के प्रति कठोर और अप्रिय सत्य का प्रयोग भी साधारण सौजन्य के विरुद्ध है। अपनी पत्नी के अप्रिय व्यंग्य के कारण उसकी

व्यावहारिक शिष्टता को चोट लगती है—'प्रिये ! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए'। जब कि संभवतः शक और हूणों की संमिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकेगा—ऐसी जटिल समस्या सामने खड़ी हो उस समय भी उक्त बात पर इतना ध्यान, उसकी सुजनता का द्योतक है। उसका व्यवहार-ज्ञान दूसरे रूप में भी दिखाई पड़ता है। अल्प काल में ही वह भलीभाँति समझ जाता है कि 'आर्यावर्त का एकमात्र आशा-स्थल युवराज स्कन्दगुप्त है'। किससे सहयोग करे, किस पर अपने सर्वस्व को निछावर करके वह इस आपत्ति-काल में साम्राज्य की रक्षा एवं देश का कल्याण कर सकता है इसका निर्णय वह तुरंत कर लेता है। निर्णय के अनुसार अपना कर्तव्य भी स्थिर कर लेता है—'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है'।

परिस्थिति की गहनता से प्रेरित होकर यही प्रतिज्ञा उस पुण्य महापर्व का कारण बन जाती है जो बंधुवर्मा के जीवन में मंगल का रूप है। स्कंदगुप्त अपनी राजधानी में शक्ति-संचय नहीं कर सकता। पारिवारिक दुरभिसंधि के फेर में पड़ने से देश का अहित हो सकता है। इसलिए आवश्यक समझकर महात्याग के लिए वह अपने को प्रस्तुत कर लेता है। इसके लिए उसे आधार और तर्क भी मिल जाते हैं—'महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। अब उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं, परन्तु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की संमिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी × × तब इन्हीं स्कन्दगुप्त ने उसकी रक्षा की थी, यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है'। इस प्रस्ताव का विरोध जब जयमाला करती है तो वह समझाता है और अपना मंतव्य स्पष्ट कर देता है—'आर्यावर्त का जीवन स्कंदगुप्त के कल्याण से है और उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट् होंगे स्कंदगुप्त'। देश के उपकार की तुलना में अपने राज्य का ममत्व वह कुछ नहीं मानता। राजसिंहासन सुख और शारीरिक विलासिता का केंद्र है और क्षत्रियों का कर्तव्य है—आर्तत्राण-परायण होना, विपद् का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसक्याकर अवहेलना करना, और—विपन्नों के लिए और अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना'। इसी विचार के अनुसार अपना राज्य-त्याग कर वह सैनिक पद स्वीकार

करता है—'बंधुवर्मा तो आज से आर्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण पदाति सैनिक है'। इसी आन पर अंत तक वह अड़ा रहता है और यही प्रचारित करता है कि 'मालव का राजकुटुंब, एक-एक बच्चा, आर्य-जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है'।

वह उत्साह से भरे सच्चे सैनिक और योद्धा के रूप में ही अमर है। वह कोई राजनीतिक पुरुष नहीं है। वह स्वयं अपनी शक्ति को जानता है—'बन्धुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षड्यंत्र तोड़ने में नहीं'। सच्चे वीर की भाँति कर्तव्यपालन के लिए अपने प्रिय स्कंद के सामने भी अड़ जाता है–'यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्तव्य है, उसे मैं ही करूँगा' इसी कर्तव्य-पालन में उसकी मृत्यु होती है और वह त्यागवीर दम तोड़ते-तोड़ते भी 'आर्य-साम्राज्य की जय!' गाता जाता है।

जयमाला

जयमाला में सच्ची क्षत्राणी का यथार्थ एवं प्रकृत रूप मिलता है। वह 'आग की चिनगारी और ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान है'। दो-चार ही स्थलों पर वह संमुख आती है परन्तु उसके व्यक्तित्वपूर्ण चरित्र में उज्ज्वलता भरी है। उसमें उत्साह, स्वावलंबन और गौरव का विचार है—'हम क्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर स्नेह है'। केवल इसी कथन में उसका संपूर्ण तेज झलकता दिखाई पड़ता है। वह युद्ध को गान समझती है और उसे ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का निरंतर संगीत मानती है। क्षत्रियोचित स्वाभिमान का उसमें उग्र स्वरूप दिखाया गया है। युवराज की सहायता पर आशा लगाए अपने पति को उपालंभ देती हुई वह उसे उत्साहित करती है साथ ही अपने दायित्व का विचार कर पति के कर्तव्यपालन में योग भी देती है। एक साथ ही उसमें निर्भीकता, गर्व, स्वावलंबन, उत्तरदायित्व, वीरता आदि गुण झलक उठते हैं। आसन्न विपत्ति में भी वह सदैव की भाँति स्थिर भाव से तत्पर दिखाई पड़ती है—'क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था। जाओ प्रभु! सेना लेकर सिंह-विक्रम से सेना पर टूट पड़ो! दुर्गरक्षा का भार मैं लेती हूँ'। उसके इस कथन में गर्व और आत्मविश्वास भरा हुआ है।

जयमाला देवसेना की भाँति भावना-लोक की दूती नहीं है। वह

यथार्थ जगत् की मानवी है। उसमें स्त्री-सुलभ व्यंग्य, वेदना, स्पष्ट-वादिता और पार्थिव ममत्व भी है। विजया को भयभीत होते देखकर वह उसकी भर्त्सना में व्यंग्य का भी प्रयोग करती है। परिस्थिति के विचार से उसका व्यंग्य कटु होने पर भी यथार्थ है—'स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँखें बिजली सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं'। इसके अतिरिक्त बंधुवर्मा के राज्य-दान का प्रस्ताव भी उसे अच्छा नहीं लगता। पैतृक संपत्ति का ममत्व वह सरलता से नहीं छोड़ सकती। अपना राज्य छोड़कर दूसरों की सेवा करनी पड़ेगी यही आशंका उसे चिंतित करती है। चिंता का यह रूप शुद्ध मानवीय है। इसे जयमाला के चरित्र की दुर्बलता नहीं कहा जा सकता। इसी बल पर वह व्यावहारिक जगत् की सच्ची प्रतिनिधि है। स्कंदगुप्त और देवसेना को संभवतः सामान्य मानवों की पंक्ति में स्थान न मिलेगा, परंतु उसे हम अवश्य अपने बीच में देख सकते हैं। देवसेना की उदार वाणी का भी वह स्पष्ट शब्दों में विरोध करती है—'विश्वप्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो'।

वह विरोध करती है परन्तु उसमें दुराग्रह का रूप नहीं है। जब उसने देखा कि प्रस्ताव के पक्ष में सभी की संमति है तो मर्यादा और पद का विचार करके आग्रह छोड़ देती है—'जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या।' इन शब्दों में सब के संमुख वह अपनी हार स्वीकार कर लेती है। उक्त प्रस्ताव का गुरुत्व और उसके मूल में जो आत्मत्याग है उसका विचार करती है; साथ ही देशहित की बात भी सोचती है। पति के प्रति अपने कर्तव्य-भाव का भी वह ध्यान करती है—'पतिदेव! आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखें खुल गई। आज हमने जो राज्य पाया है वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊँचा है'। इस कथन में जो प्रणति और आत्मसमर्पण है वह वस्तुतः उसी कर्तव्यभाव से प्रेरित है। आगे चलकर तो इसी आत्मसमर्पण का स्थूल रूप भर रहा जाता है। राज्यारोहण उत्सव में स्कंदगुप्त से वह स्वयं प्रस्ताव करती है—'देव! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं—आर्यावर्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता'।

भटार्क

गुप्त-साम्राज्य का नवीन महाबलाधिकृत भटार्क विचारशील, चतुर, स्वाभिमानी, षड्यंत्र में पटु, महत्त्वाकांक्षी एवं वीर योद्धा है। उसमें भारतीय धीरोद्धत नायक का अच्छा रूप दिखाई पड़ता है। उसे अपनी तलवार का विश्वास है और अपनी वीरता का अभिमान है—'क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती। क्या मेरे रणनाद वज्रध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कपा देते। क्या भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते'। वह दृढ़निश्चयी भी है। साध्य और साधन का रूप एक बार स्थिर कर लेने पर कड़ाई से काम लेता है। शर्वनाग को इधर-उधर करते देखकर उसने स्पष्ट कह दिया—'इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते, या तो करो या मरो। मैं सज्जनता का स्वाँग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे'।

गुण भी कुत्सित भावना से प्रेरित होकर विषाक्त बन जाते हैं। भटार्क ऐसा वीर भी अपनी महत्त्वाकांक्षा और प्रतिशोध की भावना से नियंत्रित होने के कारण अनंतदेवी के पाश में फँस जाता है। फिर तो ऐसा जकड़ जाता है कि अंतःकरण की प्रेरणा होने पर भी षड्यंत्र से निकल नहीं पाता। इसे वह अपना दुर्भाग्य ही मानता है उसकी स्थिति बड़ी विषम हो गई है। अन्यथा वह इतना नीच नहीं है; परंतु वह विवश है। एक बार हाँ करके अब मुकरे कैसे। वह अनंतदेवी के उपकार को मानता है। उसी ने उसे महत्त्व का पद दिलाया है। उसी की कृपा से वह साम्राज्य का महाबलाधिकृत बन सका है। एक तो यह भी कारण है जिससे वह अनंतदेवी के कुचक्र में पड़ता है। उसने आश्वासन-भरे शब्दों में अपनी कृतज्ञता प्रकट की है—'मैं कृतघ्न नहीं हूँ। महादेवी! आप निश्चिंत रहें'। दूसरा कारण प्रतिशोध का विचार है। पुष्यमित्रों के युद्ध में उसे सेनापति की पदवी नहीं मिली। उस पर विरोधियों ने व्यंग्यपूर्ण आक्षेप किए हैं। यह वह सहन नहीं कर सकता। उसके मन में विद्वेष उत्पन्न होता है। अपने हृदय की इस कटु स्थिति को उसने अनंतदेवी के संमुख प्रकट किया है—'महादेवी! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंग-बाण मुझ पर बरसाए गए हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में

सहायक होंगे × × मेरा हृदय शूलों के लौहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र विष-वाक्य-बाण के लिए नहीं'। इसी व्यंग्य से उत्तेजित होकर वह पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार इत्यादि को आत्महत्या के लिए विवश करता है। इस अनर्थकारी कार्य-व्यापार से भी वह एक प्रकार से दुखी ही दिखाई पड़ता है। उसके भीतर का मानव-हृदय कराह उठा है—'परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक'। परन्तु कृतनिश्चय की कठोरता उस कराह को दबा देती है। वह अपने को सांत्वना दे लेता है—'तो जाँय, सब जाँय, गुप्त-साम्राज्य के हीरों के से उज्ज्वल हृदय, वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हों'।

असत् का पलड़ा सदैव हलका रहता है। भटार्क ऐसा वीर योद्धा भी कुमार्गियों के चक्र में पड़कर गिरता है। उसकी कृति बिगड़ती है। उसकी आत्मा का हनन होता है और उसका सारा तेज नष्ट हो जाता है। परिणाम-रूप में उसे कई बार मुँह की खानी पड़ती है। महादेवी देवकी की हत्या करते समय स्कंदगुप्त से पराजित होता है, गोविंदगुप्त के सामने तलवार निकालते ही तलवार छीन ली जाती है और अंत में स्कंदगुप्त के संमुख बंदी होकर आता है। उस समय स्कंदगुप्त जो अपनी माता की इच्छा के अनुसार सब को मुक्त कर देता है उसका प्रभाव भटार्क पर भी पड़ता है। इस कारण सद्भावना एक बार उसमें पुनः उमड़ती है और देवसेना की हत्या के समय वह एक बार फिर विचार करता है—'मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा और स्कंदगुप्त से मैं किस मुँह से...नहीं नहीं...' परन्तु प्रपंचबुद्धि के स्मरण दिलाने पर कि वह पहले अनंतदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुका है विवश हो जाता है। उसमें सद्बुद्धि एकदम विलुप्त नहीं हो गई है, प्रत्यावर्तन चाहता है पर कर नहीं पाता और इसी प्रकार असंकल्पित पाप करता चलता है। इसे वह अपना दुर्भाग्य ही मानता है—'पाप-पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं। कुकर्म उसे जकड़कर अपने नाग-पाश में बाँध लेता है। दुर्भाग्य!' इसी तरह जब वह स्कंद द्वारा अपने ऊपर किए उपकारों का अनुकथन करने लगता है और प्रपंचबुद्धि उससे कहता है—'तुम मूर्ख हो! शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिए न कि उसके उपकारों का स्मरण'। तब उसे यह हीनता खलती है और वह स्पष्ट विरोध करता है—'मैं इतना नीच नहीं हूँ'। परन्तु वह अपने को उस खल मंडली के

विषाक्त वातावरण से मुक्त कर नहीं पाता; यही विवशता उसकी बेड़ी बन जाती है।

विवश होकर ही क्यों न हो जब एक बार स्कंदगुप्त का विरोध करने और अनंतदेवी का साथ देने का निश्चय कर लेता है तब कोई बात उठा नहीं रखता। विजया के कहने पर—'अहा! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनंदन कर सकती'। वह तुरंत उत्तर देता है—'यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा'। इसके उपरांत तो वह उबल पड़ता है; चेष्टा करता है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर ले। खिंगिल के दूत से अपना अंतरंग अभिप्राय कहता है—'हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कंदगुप्त ने समस्त सामंतों को आमंत्रण दिया। मगध की रक्षक सेना भी उसमें संमिलित होगी और मैं ही उसका परिचालन करूँगा। वहीं इसका (खिंगिल के प्रति सचाई का) प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा'। इसी प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए—'मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा'—कहकर भी वह स्कंदगुप्त के साथ विश्वासघात करता है। हूण-सेना के इस पार आने पर उसका मार्ग-प्रदर्शन करता है और कुभा का बाँध इस प्रकार काट देता है कि सेनासहित स्कंद उसमें बह जाता है। जहाँ तक हो सका है अनंतदेवी की सहायता के निमित्त वह अपने व्यक्तित्व को गिराने में भी हिचकता नहीं। वह सब कुछ करता है, परन्तु सदैव स्कंदगुप्त के व्यक्तित्व से प्रभावित होता रहता है। अपनी अंतिम करनी के कारण पीछे उसमें ग्लानि उत्पन्न होती है। वह विचार करता है—देश और देश के सच्चे उद्धारक का इतनी नीचता से विरोध करके उसने क्या लाभ किया। थोड़े से भौतिक लाभ के लिए इतना जघन्य जीवन उसे प्रिय नहीं लगता।

ग्लानि से प्रायश्चित्त की भावना उत्पन्न होती है और प्रायश्चित्त से आत्म-परिष्कार आरंभ होता है। भटार्क ऐसे दृढ़निश्चयी, वीर योद्धा के मन में यदि अपने प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है तो परिणाम का सुन्दर होना अनिवार्य हो जाता है। यों तो बीच-बीच में सद्भावनाएँ उसके भीतर उठती है परन्तु परिस्थिति से आबद्ध रहने के कारण वह उनका अनुसारी परिणाम उपस्थित नहीं कर पाता। अपनी अंतिम नीचता से वह स्वयं सिहर उठता है। गिरिव्रज के युद्ध के उपरांत उसमें परिवर्तन उत्पन्न होता है। फिर तो जिस सचाई के साथ उसने विरोधी-दल का

साथ दिया था उसी निश्चय के साथ इस ओर मुड़ता है और देश के त्राण में सहायक बनता है। अपनी माता की भर्त्सना पाकर वह कहता है—'माँ, क्षमा करो! आज से मैंने शस्त्र त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा'। यहीं से उसमें पुण्य-प्रवृत्ति जगती है जिससे प्रेरित होकर तुरन्त वह सैनिकों को आज्ञा देता है—'महादेवी की अंत्येष्टिक्रिया राजसंमान से होनी चाहिए। चलो, शीघ्रता करो'। भटार्क का यह प्रत्यावर्तन प्रकृत है, क्योंकि मातृ-भक्ति उसमें आरंभ से ही दिखाई पड़ी है। कमला के पूछने पर कि 'तू मेरा पुत्र है कि नहीं' वह स्पष्ट स्वीकार करता है—'माँ! संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है और मुझे इतने ही पर विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ, किसलिए। केवल इसलिए कि तू मेरी माँ है और वह जीवित है'। अपनी ऐसी माता के संमुख वह असत्य नहीं बन सकता। उसके सामने अपना निश्चय प्रकट करने पर अब फिर वह मुख नहीं मोड़ सकता।

अपने जीवन की घटनाओं और उनके मूल में बैठी अपनी वृत्तियों की आलोचना जब वह स्वयं करने लगता है तो अपनी भूल की भीषणता से दुखी हो उठता है—'ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट्! परन्तु गया, मेरी ही भूल से सब गया × × मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दंभ पाखंड की सीमा तक पहुँच गया, अनंतदेवी! एक क्षुद्र नारी—उसके कुचक्र में, आशा के प्रलोभन में, मैंने सब बिगाड़ दिया। सुना है कि कहीं यहीं स्कंदगुप्त भी है, चलूँ उस महत् का दर्शन तो कर लूँ।' इस सुन्दर निश्चय को लेकर इधर आकर देखता है कि विजया स्कंद के सामने प्रेम का नाट्य कर रही है। ग्लानि से दुखी भटार्क क्षुब्ध हो जाता है। जिसके ऊपर अत्याचार करके वह भी लज्जित है और जिससे क्षमा-याचना करने वह स्वयं आया है उसी के प्रति अपनी पत्नी को अपराध करते पाकर और भी दुखी हो जाता है। आत्महत्या ही उसे अपने प्रायश्चित्त का सरल उपाय दिखाई पड़ता है। वह स्कंद को संबोधित करके कहता है—'देव! मेरी भी लीला समाप्त है'। छुरी निकालकर अपने को मारना ही चाहता है कि स्कंद हाथ पकड़ लेता है और उसे संप्रबोधन देता है—'तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है × × आत्महत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है,

उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रक्खो'। इस प्रकार उसे उचित मार्ग का निर्देश मिल जाता है और वह तुरंत स्वीकार करता है—'जो आज्ञा होगी, वही करूँगा'। यहाँ आकर अब वह स्कंद का पूर्ण सहयोगी बन जाता है। विजया का रत्नगृह प्रकट होने पर स्कंदगुप्त कहता है—भटार्क! यह तुम्हारा है'। परन्तु भटार्क तो देश का हो चुका है, अतः वह तदनुकूल उत्तर देता है—'हाँ सम्राट्! यह हमारा है, इसलिए देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूगा'। भटार्क का यह प्रत्यावर्तन बड़ा भव्य और मंगलमय है।

विजया

मालव के धनकुबेर की कन्या विजया के जीवन का प्रेय और श्रेय सौंदर्य और महत्त्व है। वर्गगत विशेषता के रूप में धन का प्रेम भी उसमें दिखाई पड़ता है। राजनीतिक विप्लव में भी उसको केवल अपने धन की रक्षा का ध्यान है। उसकी संपत्ति की ओर यदि किसी की दृष्टि लगती है तो वह स्वार्थ-रक्षा के विचार से व्यावहारिक व्यंग्य से भी काम लेती है। जयमाला के प्रस्ताव पर उसका उत्तर—'किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है'—इस बात का साक्षी है। वह वणिक-कुमारी शुद्ध क्षत्रियत्व की भावना और तेज को समझने में सर्वथा असमर्थ रहती है। 'स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँखे बिजली सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं'। इसीलिए जयमाला के कहते ही—'दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ'—वह त्रस्त हो उठती है और तुरन्त बंधुवर्मा को संबोधित करके कहती है—'महाराज यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार किसी सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए'। देवसेना को युद्ध-काल में भी गाने का प्रस्ताव करते देख-कर उसे बड़ा आश्चर्य होता है—'युद्ध और गान'! क्योंकि ऐसी भावना से उनका सहज विरोध है। इसी प्रकार बाहर कोलाहल और भयानक शब्द होते सुनकर भी घबड़ा उठती है। जयमाला से कहती है—'महा-रानी किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिए'। छुरी लेने की बात सुनते ही उसके प्राण छूटने लगते हैं—'न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक!' छुरी में भी कहीं सौंदर्य है इसके समझने की सहजशक्ति ही उसमें नहीं है।

विजया के चरित्र की दुर्बलता का प्रधान कारण है चंचलता। दृढता,

स्थिरता और विवेक-बुद्धि की उसमें अतीव न्यूनता है। प्रणय के क्षेत्र में इसी चंचलता ने उसे व्यभिचारिणी बना दिया है। पहले तो उसने स्कंदगुप्त की सुंदर मूर्ति देखी और उस पर लुभाई, परन्तु इस अनुराग-भावना में महत्व की आकांक्षा संनिहित थी। उसने देवसेना से स्वीकार किया है—'मुझे तो आजतक किसी को देखकर हारना न पड़ा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परन्तु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कहकर टाल दे सकती हूँ'। स्कंद को स्वीकार करने में तुरन्त ही उसे एक बाधा भी दिखाई देती है—'युवराज तो उदासीन हैं × × दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है'। स्कंद की विरक्ति-मूलक प्रवृत्ति देखकर वह भी उस ओर से विरक्त ही हो उठती है, क्योंकि उसके प्रणय का लक्ष्य शारीरिक स्वास्थ्य एवं सौंदर्य के साथ-साथ महत्त्व भी है। जहाँ इन दोनों का योग हो वहीं वह रम सकती है। स्कंद में एक पक्ष की न्यूनता उसे खटकी और वह घूम पड़ती है। समीप ही दूसरे व्यक्ति चक्रपालित को देखकर कह उठती है—'चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है। है अवश्य। वीर हृदय है। प्रशस्त वक्ष है, उदार मुखमंडल है'। उसके बचे हुए अंश की पूर्ति उसकी अंतरंग सखी देवसेना कर देती है—'और सबसे अच्छी बात एक है। तुम समझती हो कि वह महत्त्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो'। प्रणय के अपने इसी मानदंड को लेकर वह आगे बढ़ती है।

भटार्क में उसे दोनों वस्तुएं एकत्र मिल जाती हैं—'अहा! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्ति है और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत'। इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं चाहिए। उसमें स्त्री-सुलभ संदेह और प्रतिहिंसा का भाव बड़ा प्रबल है। वह सोचती है—'मैं मालव में अब किस काम की हूँ, जिसके भाई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है कहाँ वह देवसेना और कहाँ मैं'। प्रेम-प्रणय को भी एक आवेश माननेवाली उस साधारण रमणी में वह विवेक कहाँ जिसके बल पर वह विचार कर सकती कि देवसेना और स्कंदगुप्त की यथार्थ स्थिति क्या है। स्थूल और प्रत्यक्ष को ही महत्त्व देने की शक्ति उसमें है। अकारण ही स्कंद की ओर बाधा देखकर वह निर्णय कर लेती है कि भटार्क ही सही। इस पर उसके साथ वह भी बंदिनी बनती है और न्यायाधिकरण में सब के संमुख स्वीकार कर लेती है—'मैंने भटार्क को वरण किया है।

इतने ही से देवसेना के प्रति उसकी प्रतिहिंसा पूरी नहीं होती। आगे चलकर यही विरोध-भाव और भी उग्र हो उठता है—'राजकुमारी ! आज से मेरी ओर देखना मत ! मुझे कृत्या अभिशाप की ज्वाला समझना और × × मुझे न छेड़ना मैं तुम्हारी शत्रु हूँ × × उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उजाड़कर कुचल दिया'। इसके प्रतिदान में वह देवसेना को श्मशान के बलि-स्थान पर ले जाकर कापालिक प्रपंचबुद्धि के संमुख छोड़कर भाग जाती है। भ्रांति के गर्त में पड़ी विजया इस प्रकार अपने कोमल आवरण में छिपे हुए विषाक्त और कठोर हृदय को सामने रख देती है।

भटार्क की मंडली में पहुँचकर भी विजया को शांति नहीं मिलती। कुछ दिनों तक अवश्य ही पुरगुप्त को राजाधिराज के रूप में अभिनंदन करने की कामना लिए हुए पात्र भर-भरकर पिलाती और इस प्रकार युवराज का मन बहलाती रहती है परंतु यह स्थिति भी अधिक दिनों तक नहीं चलती। अनंतदेवी भटार्क को अपने चंगुल से नहीं निकलने देती और विजया को पुरगुप्त की ओर लगाए रहती है, यह भेद उसकी समझ में आते ही उसमें फिर संदेह उत्पन्न होता है। अतएव अब उसका विरोध अनंतदेवी से आरंभ होता है। यहाँ भी असफलता ही मिलती है। वह क्षुब्ध हो उठती है—'प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भटार्क से नहीं वंचित कर सकता × × मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त के विलास जर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर का अवलंब वांछनीय नहीं'। परंतु अब क्या करे। यह समस्या उसके सामने आती है—'मैं कहीं की न रही। इधर भयानक पिशाचों की लीला भूमि, उधर गंभीर समुद्र। दुर्बल रमणी-हृदय × × अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ कहाँ ! किधर !' इत्यादि विचार करते-करते उन्मत्त हो उठती है, अपनी चिंता-तरंगों में उलझी हुई और भी सोचती है—'स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देवतुल्य स्कंदगुप्त से विद्रोह किया, किसलिए ! केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए'। इसी अंतर्जागर्ति का यह फल होता है कि शर्वनाग की प्रेरणा से उसमें परिवर्तन उपस्थित होता है और वह भी स्वीकार करती है—'तुमने सच कहा। सब को कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। चलो।'

वस्तुतः क्रय-विक्रय और लेन-देन के विचार से अभी भी वह मुक्त नहीं हुई है। वणिक्-वृत्ति अभी तक उसमें जीवित है। उसका यह परिवर्तन सच्चा नहीं कहा जा सकता। उसकी इस कल्याण-कामना के मूल में भी एक क्षुद्र और भौतिक स्वार्थ लगा ही है—'देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था। परन्तु विजया भी एक बार वही करेगी × × मेरा रत्नगृह अभी बचा है उसे सेना-संकलन करने के लिए सम्राट् को दूँगी और एक बार बनूँगी महादेवी × × इसमें दोनों होगा स्वार्थ और परमार्थ'। इसी भावना से प्रेरित होकर वह फिर एक बार स्कंद के समीप पहुँचती है और उसके संमुख अपने प्रेम का प्रस्ताव रखती है—'तुम्हारे लिए मेरे अंतस्तल की आशा जीवित है× ×मेरे पास अभी दो रत्नगृह छिपे हैं; जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही इन हूणों को परास्त कर सकते हो× ×केवल तुम स्वीकार कर लो× ×हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो' इत्यादि। जब इसका कठोर अस्वीकारात्मक उत्तर स्कंद की ओर से पाती है और उसी समय भटार्क भी वहाँ सहसा पहुँचकर उसे भर्त्सना देता है तो घोर अपमानित होकर, सब प्रकार से अपने को पराजित मानकर, वह आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार जीवन में उसे केवल हार ही हार मिली। इसका प्रधान कारण था उसके चरित्र की मानवीय दुर्बलताएँ—दंभ, अभिमान, लालसा, चंचलता और अविवेक।

शर्वनाग

यों तो शर्वनाग नाटक के प्रमुख पात्रों में स्थान नहीं पा सकता परन्तु उसका चरित्र-चित्रण प्रकृत एवं यथार्थ है। उसका नाटकीय जीवन छोटा और व्यक्तित्व साधारण है, फिर भी उतार-चढ़ाव के विचार से आलोच्य विषय बन गया है। हमारे सामने सर्व-प्रथम वह सच्चे सैनिक के रूप में आया है और केवल दो बातें जानता है—'सुंदरी खड्ग-लता' जिसकी प्रभा पर वह सदैव मुग्ध है और 'उसकी स्त्री' जिसके अभावों का कोष कभी खाली नहीं; जिसकी भर्त्सनाओं का भांडार अक्षय है, साथ ही जिससे उसकी अंतरात्मा काँप उठती है। जिस समय रामा उसे डाँटती है वह घबड़ा उठता है—'मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूछ उखाड़ सकता हूँ, परंतु सिंहवाहिनी! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं× × ×परंतु मुझे घबराओ मत, समझाकर कहो'। वह सीधा-

सच्चा वीर योद्धा है। छल-कपट और षड्यंत्र से उसका कोई संबंध नहीं। शुद्ध हृदय को न तो किसी प्रकार का भय व्यापता और न चिंता। उसे केवल अपनी शक्ति पर अखंड विश्वास बना रहता है। इसी विश्वास पर उसके समस्त व्यापार टिके रहते हैं और उसमें स्पष्टवादिता का प्रधान गुण भी विद्यमान रहता है। प्रपंचबुद्धि को अत्यंत सावधान और सशंक देखकर शर्व को आश्चर्य होता है। सशंक दृष्टि से फूंक-फूँककर पैर रखना उसकी वीर प्रकृति के लिए अस्वाभाविक है—'परंतु आप इतना चौंकते क्यों हैं। मैं तो कभी यह चिंता नहीं करता कि कौन आया है या कौन आवेगा × × × मैं खड्ग हाथ में लिए प्रत्येक भविष्यत् की प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा, वही निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायँगी'। उसे केवल अपने खड्ग और पुरुषार्थ पर भरोसा है। उसके कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह शुद्ध और वीर सैनिक है। उसके दृढ़ आचरण को देखकर ही प्रपंच बुद्धि और भटार्क ने उसे अपनी मंडली में मिलाने का प्रयत्न किया है। जब तक कुसंगति का विष उस पर नहीं चढ़ा तब तक वह निर्मल और निर्भय था। भटार्क ने जिस समय महादेवी के वध का प्रस्ताव उसके संमुख रखा उस समय उसने जिस धैर्य और दृढ़ता से उसका विरोध किया उससे उसका चरित्रबल स्पष्ट झलकता है—'नाप तौल मैं नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा दो। मैं भूखे भेड़िए की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ, परंतु निरीह हत्या—यह मुझसे नहीं × × तुम सैनिक हो, उठाओ तलवार! चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखें मरने से कौन भागता है। कायरता! अबला महादेवी की हत्या। किसी प्रलोभन में तुम पिचाश बन रहे हो × × × नहीं भटार्क! लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था। मुझसे यह काम नहीं होने का'। परंतु वही शर्वनाग मदिरा के प्रभाव में पड़कर ऐसा गिरता है कि बुद्धि और विवेक से शून्य हो जाता है। फिर तो भटार्क के ही रंग में रँग जाता है। स्थिति-जन्य यह दुर्बलता शर्व में अच्छे ढंग से चित्रित हुई है। उन्मत्त होकर वह [illegible] के ऊपर [illegible] करके कहता है 'जो आज्ञा

गिरता है कि उसकी पशुता दुर्जेय हो जाती है। रामा के कितना समझाने पर भी वह नहीं सम्हलता। उसे भी वह ठुकरा देता है—'जा, तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्याएँ करनी पड़ेंगी। मैं प्रतिश्रुत हूँ, वचन दे चुका हूँ'। रामा ने जब महादेवी की हत्या में बाधा दी तो पहले उसे ही मारने को उद्यत हो गया। यहाँ तक तो मदिरा से प्रभावित उसकी पशुता चलती है; पर सहसा स्कंदगुप्त आकर उसकी गर्दन दबाकर तलवार छीन लेता है। इसके उपरांत होश आने पर वह अपनी हीनता का विचार करता है। मदिरा से मुक्त होकर वह जब अपनी यथार्थ स्थिति देखता है तो उसे दुःख होता है।

जिस समय वह बन्दी-रूप में न्यायाधिकरण के संमुख उपस्थित किया जाता है उस समय की उसकी मानसिक वेदना उसके इन शब्दों से स्पष्ट प्रकट होती है—'सम्राट्! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, ऐसे नीच के लिए और कोई दंड नहीं है × × × जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा × × × दुहाई सम्राट् की! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्महत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचार किया था। ओह!' इस प्रकार वह अपने पूर्व कुकर्मों के प्रति ग्लानि प्रकट करता है। भटार्क की कुमंत्रणा में पड़कर वह कितना गिरा इसका विचार उठते ही पश्चात्ताप से वह व्यथित हो उठता है और अपनी नीचता के विरुद्ध स्कंद और महादेवी देवकी की क्षमा से आपूर्ण उदारता देखकर विह्वल हो उठता है। देवकी के पैर पर गिरकर कहता है—'माँ! मुझे क्षमा करो, मैं मनुष्य से पशु हो गया था। अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो जगद्धात्रि! कि मैं देव चरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूँ'। सच्ची ग्लानि से प्रेरित उसकी वह भावना अंत तक स्थिर बनी रहती है। उसके चरित्र की यही उच्चावचता सुंदर है। अंतर्वेद के विषयपति के रूप में वह साम्राज्य की सेवा करता है। हूणों के द्वारा अपने प्रांत को पादाक्रांत पाकर वह क्षुब्ध हो जाता है। इसी तरह स्कंद की सेवा में लगा हुआ अंत में साम्राज्य की सफलता भी देख लेता है।

अनंतदेवी

वृद्धस्य तरुणी भार्या अनंतदेवी उग्र स्वभाव की है; निर्भीक होकर साहस के साथ षडयंत्र की रचना में पटु है। महत्त्वाकांक्षा के संमुख

मर्यादा के उल्लंघन में भी नहीं हिचकती। देवकी को महादेवी और राजमाता होने का जो सौभाग्य मिला इस विधि के विधान से वह असंतुष्ट है, वह महत्त्वपूर्ण पद स्वयं चाहती है। इसके लिए सब कुछ करने को तत्पर है। उसने निश्चय कर लिया है कि—'अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूंगी'। इस चलने में वह अच्छी तरह जानती है कि अनेक भयानक स्थितियों में पड़ना होगा परन्तु उसका विश्वास है—'क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है'। उसे केवल एक बात की लालसा है। वह पुरगुप्त को सिंहासन पर बैठाकर स्वयं गुप्तसाम्राज्य का शासन करना चाहती है। परन्तु व्यावहारिक बाधाओं के कारण उसे शंका बनी रहती है। वह भटार्क को समझाती है—'देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ़ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन की शंका हो रही है' और साधनरूप में वह भटार्क और प्रपंचबुद्धि को अपनाती है। वह भटार्क को इसी अभिप्राय से गुप्तसाम्राज्य का महाबलाधिकृत बनने में सहायता देती है और इस सहायता के द्वारा उस शक्तिशाली पुरुष को खरीद लेती है।

वह बड़ी ही व्यवहारकुशल है। अवसर पर अत्यंत कटु और कठोर बन जाती है, साथ ही स्थिति प्रतिकूल होने पर अत्यंत विनम्र एवं दीन भी बन सकती है। जहाँ एक ओर शर्वनाग को भयभीत करने के लिए कहती है—'सौगंद है। यदि विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायगा' और महादेवी से कहती है—'परंतु व्यंग की विष-ज्वाला रक्तधारा से भी नहीं बुझती देवकी! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ', वहीं दूसरी ओर स्कंद जिस समय शर्वनाग और भटार्क को परास्त करके इसकी ओर घूमता है और पूछता है—'मेरी सौतेली माँ! तुम × ×' उस समय तुरंत घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़ती हुई वह कहती है—'स्कंद! फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ'। इसी प्रकार सही, किसी तरह जान तो बचे, जिससे इष्ट-साधन का अवसर मिल सके। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी उसका यह शीतोष्ण वैचित्र्य दिखाई पड़ता है। विजया को पहले तो पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर बैठने का प्रलोभन देती है फिर उसमें विरोध का भाव पाकर उग्र होकर कहती है—

'इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ! तू जानती है कि किसके साथ बात कर रही है × × मैं हूँ अनंतदेवी ! तेरी कूटनीति के कंटकित कानन की दावाग्नि, तेरे गर्वशैलश्रृंग का वज्र, मैं वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे' । इस ढंग से विजया को आतंकित कर देती है । परन्तु वही अनंतदेवी जिस समय नाटक के अंत में पुरगुप्त के साथ बंदी-वेश में संमुख लाई जाती है उस समय अत्यंत सरल और दीन रूप बना लेती है—'क्यों लज्जित करते हो स्कंद ! तुम भी तो मेरे पुत्र हो × × मुझे क्षमा करो सम्राट् !

अन्य पात्र

नाटक के इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त भी जो अन्य पात्र हैं वे व्यक्तित्व पूर्ण हैं । सबों के साथ अपनी-अपनी चरित्र-संबंधी विशेषताएँ लगी हैं । अनंतदेवी के हाथ का कठपुतला पुरगुप्त भी पहले एक सजग व्यक्ति था । कुमारगुप्त के निधन के उपरांत वह जिस अधिकार भरे स्वर में बोलता है उससे उसकी पद-मर्यादा झलकती है—'भटार्क ! यह सब क्या हो रहा है × × × चुप रहो । तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी । उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट कर गए हैं' × × × 'महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बंदी करो' । वही पीछे चलकर अनंतदेवी की महत्त्वाकांक्षा का एक क्षुद्र अस्त्र भर रह जाता है और घोर मद्यप बन जाता है । यों तो साम्राज्य की विजय पर उसे भी गर्व होता है—'विजय पर विजय ! देखता हूँ कि एक बार वंक्षुतट पर गुप्त-साम्राज्य की पताका फिर फहरायगी । गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण-प्रभा का विस्तार करेगा' । परंतु वह 'निर्वीर्य, निरीह बालक !' गर्व करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता है । संपूर्ण नाटक में उसका चरित्र अनंतदेवी के चंगुल से बाहर कहीं स्वतंत्र रूप में खड़ा नहीं होने पाता ।

चक्रपालित सच्ची सैनिक प्रवृत्ति का युवक है—स्पष्टवादी, निर्भीक और सीधा । 'हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता' । देश की संमान-रक्षा में सदैव स्कंद के साथ लगा रहता है । **मातृगुप्त** कोमल वृत्ति का भावुक कवि है । अपनी कल्पनाओं का मधुर आस्वादन करता हुआ युवराज के साथ देशकल्याण में लगा रहता है । देश के उज्ज्वल भविष्य का ध्यान उसे सदैव बना रहता है । उसने

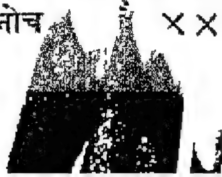
सोचा था कि 'देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त में गौरव का सूर्य चमकेगा × × उद्बोधन के गीत गाए, हृदय के उद्गार सुनाए' और सारे संकट में यथाशक्ति राष्ट्र के कल्याण में लगा रहता है। सिंहल का राजकुमार **कुमारदास** (धातुसेन) विलक्षण बुद्धि का युवक और भारत-गौरव का अनन्य प्रेमी है। समय-समय पर स्कंदगुप्त की सहायता के लिए तत्पर दिखाई पड़ता है। सिंहल का अपना राज्य उसे उतना प्रिय नहीं है जितना भारत का कल्याण—"भारत समग्र विश्व का है और संपूर्ण वसुंधरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है' × × × 'भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है' इत्यादि वचनों से उसका भारतवर्ष के प्रति ममत्व प्रकट होता है। उसकी प्रकृति उदार है। साम्राज्य के विरुद्ध खड़े हुए बौद्धसंघों को अनुकूल बनाने में वह योग देता है और गिरी हुई दशा में देश को विजयी बनाने में भी साथ-साथ लगा रहता है। इसी तरह स्त्री-पात्रों में महादेवी **देवकी** की पतिभक्ति और स्कंद के प्रति वात्सल्य के साथ-साथ असीम दयालुता और क्षमाशीलता उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता है। **रामा** की सद्भावना-भरी सहायता, उग्रता के साथ चरित्र की दृढ़ता, निर्भीक होकर सत् का पक्ष ग्रहण करना इत्यादि विशेषताएँ उसके स्वरूप को सुन्दर बना देती हैं। भटार्क के सुधारने में **कमला** का भर्त्सना-भरा विवेक अच्छा दिखाई पड़ता है।

रस का विवेचन

भारतीय नाट्य-विवेचना की पद्धति में रस का विचार आवश्यक होता है। नाट्य-रचना के अन्य तत्त्व साधन हैं और रसनिष्पत्ति साध्य है। 'स्कंदगुप्त' में यों तो व्यक्त प्राधान्य युद्ध-वीर और त्यागवीर रसों का है परंतु आरंभ और पर्यवसान शांत में ही होता है। जैसे युवराज स्कंदगुप्त के चरित्र में द्विविध रूप दिखाई पड़ता है उसी प्रकार रस-पक्ष में भी दो धाराएँ हैं। संपूर्ण इतिवृत्त और घटनाव्यापारों के विचार से प्रस्तुत नाटक शोक-पर्यवसायी नहीं माना जा सकता। स्कंदगुप्त के संमुख व्यक्त लक्ष्य केवल एक है—आर्यराष्ट्र के गौरव की रक्षा अथवा विचलित हुई गुप्तकुल की श्रीलक्ष्मी का पुनरस्थापन। अतः उसके जीवन का प्रमुख अंश साम्राज्य की क्षुब्ध एवं असंरक्षित स्थिति को संभालने में व्यतीत होता है। उसका सामाजिक रूप राष्ट्र के ही नियंत्रण में लगा दिखाई

पड़ता है। वह जिस फलप्राप्ति में तत्पर है वह आक्रमणकारियों से मुक्त करके देश को निरापद बनाना है, गृह-कलह को शांत करना है और उन अन्य कारणों का उन्मूलन है जिनसे राष्ट्र की हानि होने की संभावना है। यदि अंत में उसने इन ध्येयों की प्राप्ति कर ली है तो नाटक पूर्णतः सुखांत है। उसने अवश्य ही अखंड पुरुषार्थ के बल पर अपनी फल-प्राप्ति की है। आरंभ में जिस फल को ध्यान में रखकर वह चला है, जिसके लिए अनेक प्रयत्न किए हैं वह क्रमशः प्राप्त्याशा और नियताप्ति के मार्ग से उसे प्राप्त हो गया है। उसका जीवन और जीवन के नाना व्यापार सफल हैं। इस आधार पर स्कंदगुप्त नाटक सुख-पर्यवसायी ही माना जायगा।

नाटक के अंतिम दृश्य ने रस-संबंधी एक प्रश्न खड़ा कर दिया है, जिसके कारण प्रायः विवाद चल पड़ता है। खिंगिल पर विजय प्राप्त करके और पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर स्कंदगुप्त ने पूर्ण फल की प्राप्ति जब कर ली तब उसके उपरांत एक दृश्य और बढ़ाकर जो देवसेना के कथोपकथन से नाटक की समाप्ति दिखाई गई है उससे वीररस की अखंड निष्पत्ति में हलका सा व्याघात पड़ता है। साथ ही 'अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है' इत्यादि निर्वेदात्मक वचनों में विरक्ति-भावना से समन्वित समारम्भ के कारण यह भ्रांति हो सकती है, कहीं शांत रस की प्रधानता न दिखाई गई हो। इसके अतिरिक्त यदि शांत रस का पक्ष लिया जाय तो उसके अन्य आवश्यक उपादान भी एकत्र किए जा सकते हैं। आरंभ में ही बुद्धि और स्थिति-जन्य जो विराग और निर्वेद स्कंद में दिखाई पड़ता है उसका आलंबन है गृह-कलह और अनंतदेवी एवं भटार्क का महत्त्व-लोभ तथा अधिकार-लिप्सा। उद्दीपन के रूप में विजया का स्कंदगुप्त की ओर से हटना और भटार्क की मंडली में योग देना, भटार्क की प्रतारणा और गिरिव्रज की पराजय है। 'बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी संपूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ ही चाहिए × × × ओह! जाने दो, गया, सब कुछ गया × × × कर्तव्य विस्मृत भविष्य अंधकारपूर्ण लक्ष्यहीन दौड़ और अनंतसागर का संतरण है। × × × आर्य-साम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है। कितना वीभत्स! सिंहों की विहारस्थली में शृगाल-वृंद सड़ी लोथ नोच [illegible] हैं × × × आह! मैं वही स्कंद हूँ अकेला



निस्सहाय।' इत्यादि वचन अनुभाव हैं। चिंता, निर्वेद, दीनता आदि संचारी हैं।

फिर भी उक्त सभी उपादानों के संयोग से शांत रस की निष्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि स्कंदगुप्त की आद्यंत कर्मवीरता के अखंड साम्राज्य में समष्टि-प्रभाव शांत के पक्ष में हो ही नहीं सकता। समय-समय पर जो स्थिति-प्रेरित उक्त बातें हैं वे स्कंद के अंतर्द्वंद्व और चरित्र की विषमता की द्योतक हैं। वर्तमान पाश्चात्य प्रणाली से प्रभावित चरित्र की उच्चावचता अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति के कारण ही यह अनंग-कीर्तन[1] हो गया है और इसीलिए नाटक में शांत रस का आभास दिखाई पड़ता है। यदि शुद्ध भारतीय पद्धति से विचार किया जाय तो अंतिम दृश्य सर्वथा निरर्थक ठहरता है। उससे रस में व्याघात पड़ता है। जितने विषय उस दृश्य में आए हैं उनका यथाप्रसंग संचित रूप इसके पूर्व ही मिल जाता है। अतएव उस दृष्टि से भी उस दृश्य की आवश्यकता नहीं है। देवसेना और स्कंद के उस संवाद से कोई नई विशेषता नहीं प्रकट होती। एक प्रकार से उसमें पूर्व-प्रसंगों की प्रतिध्वनि मात्र मिलती है। उस दृश्य में भी चरित्रगत विलक्षणता की वही यथार्थ झलक दिखाई देती है जो स्कंद और देवसेना में कई पूर्व अवसरों पर प्राप्त हो चुकी है।

उत्साह एक स्थायी भाव है जो बहुमुखी स्थितियाँ उत्पन्न करता है। जैसे वह शूर में अपना प्रभाव दिखाता है वैसे ही दानी और दयालु में भी अपना महत्त्व प्रदर्शित करता है। स्कंदगुप्त नाटक में इसी उत्साह का सुंदर प्रसार दिखाई पड़ता है। कृतिकार की क्रियाशक्ति के द्वारा प्रधान पात्र में अभिव्यंजित स्थायी भाव—उत्साह—सामाजिकों और दर्शकों के हृदय में संस्कार रूप से स्थित उत्साह से अभिन्न होकर, साधारणीकृत होकर, जब पूर्णरूप से प्रकाशित हो उठता है तभी सकल सहृदयता-आनंद-स्वरूप वीररस की अनभूति होती है। प्रस्तुत नाटक में दर्शक की संपूर्ण वृत्तियाँ स्कंद में ही रमती हैं, उसी के साथ नाना स्थितियों एवं घटनाओं के प्रवाह में बहती चलती हैं। अतएव उसी की अनुभूतियों

---

१ अंगिनोऽननुसन्धानमनंगस्य च कीर्तनम्।—साहित्यदर्पण, परिच्छेद ७, श्लोक १४।

का साधारणीकरण सामाजिकों की अनुभूतियों से होता है। स्कंद का सारा जीवन वीरतापूर्वक राष्ट्र के उद्धार में व्यतीत हुआ है। उत्साह से प्रेरित उसका सारा वृत्त जिस अलब्ध उद्देश्य की पूर्ति में फैला दिखाई पड़ता है वह वीरता की ही सच्ची कहानी का चरम फल है। इस प्रकार नाटक में प्रधान रस वीर ही है—अपने विरोधी-अविरोधी समस्त अंग रसों के साथ।

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—नाट्यशास्त्र ने इन चारों अवयवों के संयोग में ही रस की पूर्णता मानी है। प्रस्तुत नाटक मे इनकी पूरी-पूरी संयोजना दिखाई पड़ती है। स्कंदगुप्त आश्रय है उसमें उत्साह स्थायी भाव वर्तमान है। उसकी उदात्त चरितावली में यह स्थायी भाव बड़ा ही उज्ज्वल हो उठा है। 'दूत !××× शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है ××× अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए संनद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।' इत्यादि उद्गार उसके उत्साह के ही अभिव्यंजक हैं। उत्साह विरोध सहन नहीं करता, अतएव प्रतिद्वंद्वियों को देखकर वह उग्र हो उठता है। स्कंद के उत्साह के लिए अंतःकलह के उत्पादक भटार्क और अनंतदेवी और राष्ट्र के शत्रु पुष्यमित्र, शक तथा हूण ही आलंबन हैं। अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्तसाम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं। इधर प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गई है। बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादंबिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त साम्राज्य की नहीं है। कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रांत कर लिया है। अबकी बार पुष्यमित्रों का अंतिम प्रयत्न है। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं। इतना ही नहीं, शक राष्ट्रमंडल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छ-वाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रांत हो चुका है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा—आदि राजनीतिक परिस्थितियाँ और अनंतदेवी का षड्यंत्र तथा समस्त उत्तरापथ के धर्म-संघों का गुप्त विरोध उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आते हैं।

अनुभाव के अंतर्गत वे समस्त कार्य-व्यापार रखे जायँगे जो इस अखंड उत्साह के परिणाम हैं—मालव, गिरिव्रज और अंत का युद्ध, मालव-सिंहासन की स्वीकृति, मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त

करना । इनके अतिरिक्त देवकी और देवसेना की रक्षा, सब बंदियों और विद्रोही—विरोधियों को क्षमा इत्यादि सभी व्यापारों के मूल में उत्साह ही है, अतः ये सब उसी के अनुभाव हैं। संपूर्ण नाटक के साथ संचरण करनेवाले संचारियों की विविधता दिखाई पड़ती है। धृति—'ध्यान रखना होगा कि राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है' के अनेक सुंदर और भव्य रूप मिलते हैं। दृढ़तापूर्वक सावधान रहना स्कंद की अपनी विशेषता थी। धृति की ही भाँति स्थान-स्थान पर गर्व, चिंता, उत्सुकता, आवेग, विषाद, ग्लानि इत्यादि अन्य संचारियों का भी समावेश होता गया है। इस प्रकार वीररस के सभी उपादानों का संयोग स्वयं उपस्थित हो गया है और नाटक में रस-निष्पत्ति पूरी-पूरी हुई है। युद्धवीर के साथ-साथ दानवीर का भी अच्छा समन्वय है। स्कंद ने जिस साम्राज्य की सिद्धि अपने अपार पौरुष के बल पर प्राप्त की थी और जिस राष्ट्र के निरापद बनाने में उसने अपना संपूर्ण जीवन उत्सर्ग कर दिया था उसी को एक क्षण में उसने पुरगुप्त को दान कर दिया। इस प्रकार अंत में युद्ध और दानवीरता की जो अन्विति दिखाई पड़ती है वही रस-दशा का परमोत्कर्ष है। इस महात्याग और महादान का प्रेरक प्रधानतः उत्साह ही है। अतः सहयोगी रूप में दानवीर की अभिव्यंजना सर्वथा अभिमत है।

विशेषता

प्रस्तुत नाटक में 'प्रसाद' की पद्धति ने एक विशेष ढंग पकड़ा है। यह विशेषता भारतीय एवं पाश्चात्य शैलियों के समन्वय में दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य शास्त्रियों ने नाटक की मौलिक विशिष्टता दो बातों में मानी है—'कार्य' और 'द्वंद्व'। इस नाटक में नाटकीय सक्रियता आद्यंत जागरित बनी रहती है। प्रथम दृश्य में राष्ट्रीय समस्याओं के परिचय के साथ-साथ उनके सुलझाने का प्रयत्न भी आरंभ हो जाता है। मालव की सहायता के लिए स्कंद बद्धपरिकर होता है। अंत तक युद्ध, चेष्टा, प्रयत्न, षड्यंत्र, विरोध और दमन के ही व्यापार चलते रहते हैं और ——— की पराजय से नाटक की समाप्ति होती है। इस सक्रियता के प्रसार का मुख्य कारण द्वंद्व और संघर्ष होता है इस नाटक में

गुप्त और वर्गगत। व्यक्तिगत द्वंद्व का सुंदर स्वरूप स्कंदगुप्त एवं देवसेना में मिलता है और वर्गगत द्वंद्व तो प्रत्यक्ष ही है। षड्यंत्रकारियों का [illegible] ारिवारिक संघर्ष स्कंदगुप्त और साम्राज्य के विरोध में है। इस विरोध की उग्रता धर्मसंघों के कारण और भी प्रदीप्त होती है। इस पारिवारिक राजनीति तथा धार्मिक कुचक्रों के बल पर ही विदेशी आक्रमणकारी सफलतापूर्वक उपद्रव खड़ा कर सके हैं। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी, भाई-भाई, माता-पुत्र, सखी-सखी, स्वामी-सेवक इत्यादि के संघर्ष भी चलते ही हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मानदंड से यह रचना प्रभावोत्पादक और सर्वथा सफल है। संघर्ष और सक्रियता ही इस नाटक के प्राण हैं। इस संघर्ष को लेकर विचार करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि नाटक के तृतीय अंक की समाप्ति पाश्चात्य चरमसीमा के रूप में हुई है। साथ-साथ में व्यक्तित्व-चित्रण की ओर जो विशेष ध्यान दिया गया है वह भी पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के ही अनुकूल है। फल-प्राप्ति के उपरांत भी एक दृश्य जो आगे बढ़ाकर नाटक की समाप्ति दिखाई गई है, उसके मूल में यही व्यक्तित्व-चित्रण की प्रेरणा लक्षित होती है।

नाट्यशास्त्र के भारतीय पंडितों ने नाटक की सृष्टि के तीन ही मुख्य उपादान माने हैं—वस्तु, नेता और रस। इसमें वस्तु एवं नेता के योग से रस-निष्पत्ति ही लक्ष्य है। नाटक का वृत्त ख्यात, इतिहास-प्रसिद्ध है ही। साथ ही नायक उदात्त चरित्र का है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी इत्यादि का सुंदर रूप में संयोग होने से वीररस की निष्पत्ति भी हो गई। संपूर्ण कृति में समष्टिप्रभाव प्राप्त होता है। नाटक के आवश्यक सभी विषय इस रचना में मिल जाते हैं। इस प्रकार पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों विचारों से स्कंदगुप्त नाटक उत्तम है।

चंद्रगुप्त

इतिहास

मौर्यवंश का प्रथम प्रतापशाली शासक चंद्रगुप्त था। उसके पूर्वजों के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ लोगों ने इसे शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न लिखा है। यह भ्रांति विशेषतः ग्रीक ऐतिहासिकों के कारण आरंभ हुई ज्ञात होती है,[१] अथवा यह भी हो सकता है कि नंद-वंश विषयक जनश्रुति चंद्रगुप्त पर आरोपित हो गई हो। कुछ लोगों का कथन है कि वह वीर क्षत्रिय था और उसका जन्म पिप्पलीकानन (वन) के मोरिय जाति के क्षत्रियों में हुआ था[२]। इन मोरियों का उल्लेख दीघ-निकाय के महापरिनिव्वाण सुत्त में मिल चुका है। बुद्ध के जीवनकाल में ही वर्तमान गोरखपुर के पूर्वोत्तर में मौर्यों का प्रजातंत्र राज्य था। संभवतः इसी राज्य के किसी क्षत्रिय सरदार का पुत्र चन्द्रगुप्त था। पीछे वह राज्य महापद्मनंद के राज्य-विस्तार के कारण मगध के शासन में आ गया और कालांतर में नंद की उच्छृंखलता से मुक्त होने की इच्छा रखनेवालों का नायक, मौर्यवंशीय चंद्रगुप्त हुआ[3]। वस्तुस्थिति की विवेचना से ऐसा ज्ञात होता है कि इस महत्वाकांक्षी युवक का प्रथम प्रयास असफल रहा और उसे कठोर शासक नंद के चंगुल से बचकर भागना पड़ा। चंद्रगुप्त के विषय में कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि वह महानंद का पुत्र है, परंतु यह बात अब प्रायः सभी विद्वानों के मत से भ्रांत ठहरती है, क्योंकि ऐसा प्रमाण भी मिलता है कि चंद्रगुप्त से और नंद-राजकुमारी से प्रेम था। कालांतर में उन दोनों का विवाह हुआ और उन्हीं की संतान बिंदुसार था जो चंद्रगुप्त

१—McCrindle, J. W., The Invasion of India by Alexander the Great (as described-by Arrian, Curlius, Diodorus. Plutarch and Justin) New Edition. pp. 325 and 404.

२—(i) जयचंद्र विद्यालंकार, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २ पृ० ५४८।
(ii) सत्यकेतु विद्यालंकार, मौर्य-साम्राज्य का इतिहास पृ० ६० से पृ० १११ तक।

३—Hemchandra Ray Chaudhuri, Political History of Ancient India (1932), p. 181.

के उपरांत शासक हुआ[१]। ऐसी स्थिति में चंद्रगुप्त को नंदवंश का स्वीकार करना असम्भव है।

जिस समय चंद्रगुप्त मगध से भागकर सुदूर पश्चिमोत्तर-सीमा पर पहुँचा उस समय वहाँ उसका परिचय ब्राह्मण विष्णुगुप्त से हुआ जिसका उपनाम चाणक्य अथवा कौटिल्य था। वह तक्षशिला का शिक्षार्थी और वहीं के विश्वविद्यालय का स्नातक था। तक्षशिला का वह विद्याकेंद्र शिक्षा-दीक्षा के कारण अति प्रसिद्ध था और उसमें कोशल, काशी, मल्ल इत्यादि राज्यों के राजकुमार भी जाकर विद्याभ्यास करते थे। यह संस्था विविध शास्त्रों का ज्ञान कराती थी और तत्कालीन समाज एवं राजनीति के नियंत्रण में उसका प्रच्छन्न हाथ अवश्य ही रहता था[२]। सिकंदर के आक्रमण-काल में यही प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र विद्रोह का प्रधान केन्द्र था। वहाँ उस समय कूटविद्या और सैन्य-शास्त्र-विशारद चाणक्य और उसका शिष्य चंद्रगुप्त वर्तमान थे[3]।

जिस समय चंद्रगुप्त विजेता अलक्षेंद्र से मिला उस समय उसकी बाल्यावस्था थी और उसमें महत्व-प्रियता इतनी अधिक थी कि साधारण बातचीत में भी उसका दर्प प्रकट होता था। परिणामतः अलक्षेंद्र उससे चिढ़ गया और चन्द्रगुप्त को वहाँ से भी हट जाना पड़ा[४]। इसके उपरांत वहीं अपने गुरु चाणक्य के साथ रहकर वह भावी कार्यक्रम में प्रयत्नशील हुआ। उस समय संपूर्ण पंजाब प्रांत स्वतन्त्र और गणतन्त्र राज्यों का घर था। इन हिंदू शासकों में आपस में नहीं बनती थी। वे एक दूसरे का पतन देखने में ही सन्तुष्ट रहते थे। वहाँ के प्रमुख राज्य में

१—T. L. Shah, Ancient India Vol. 11 (1939). p. 150 and 175,

२—(i) मौर्य-साम्राज्य का इतिहास, पृ० ६७३ से ६८५ तक।

(ii) The Invasion of India by Alexander the Great, p. 342.

(iii) जनार्दन भट्ट, बौद्धकालीन भारत (सं० १९८२), पृ० ३७१ से ३७५ तक।

३—E. B. Habell. The History of Aryan Rule in India. From The Earliest Times to the Death of Akbar, Chapter 5,

४—(i) Talboys Wheeler, The History of India Vol. III, p. 175–6.

(ii) Hemchandra Ray Chaudhury. Political History of Ancient India (1932), p. 181–2.

गांधार नरेश-आंभी (आंभीक) एक ओर आक्रमणकारी के स्वागत में लगा था और दूसरी ओर महाराज पुरु (पोरस) अपनी संपूर्ण शक्ति के द्वारा उसका विरोध करने की ठान रहे थे। फलतः आंभीक और विजेता अलक्षेन्द्र के साथ पोरस का घोर युद्ध हुआ। जिसमें पहला पक्ष विजयी तो रहा पर उसे महाराज पुरु का लोहा मानना पड़ा[1]। सिकन्दर ने इस वीर शासक को परास्त कर उसे पुनः व्यास और झेलम के दोआब का क्षत्रप नियुक्त किया, जैसे झेलम और सिंधु के बीच के प्रांत का आंभीक तथा सिंधु के पश्चिम प्रदेश का फिलिप्स् को नियुक्त किया था। अपने क्षत्रपों को स्थापित करते और उत्तरस्थ छोटे-छोटे अन्य राज्यों एवं शासकों को अपनी छत्र-छाया से उपकृत करते हुए अलक्षेंद्र दक्षिण की ओर बढ़ा। उस समय उस ओर भी कई छोटे-छोटे प्रजातन्त्र—सिलाई, अगलासोई, मालव, क्षुद्रक प्रभृति राज्य थे। इनके अधिकारी थे तो बड़े शूरवीर पर आपस में ऐक्य न होने से ये राज्य शीघ्र ही विजित हो गए। मालव और क्षुद्रकों ने परस्पर मिलने की चेष्टा की और एक अनुभवी क्षत्रिय को सेनापति भी बनाया परन्तु इसके पूर्व की यह संमिलित सेना सजग हो, अलक्षेन्द्र ने सहसा उस समय आक्रमण कर दिया जिस समय लोग खेतों में काम कर रहे थे। बड़ा उग्र युद्ध हुआ जिसमें अलक्षेन्द्र बुरी तरह घायल और मूर्छित होकर गिर पड़ा। इस पर मकदूनिया की सेना विक्षिप्त हो उठी और नृशंस होकर चारों ओर स्त्रियों-बच्चों तक को कतल करने लगी[2]। इसी प्रकार रक्तपात करते हुए यह मकदूनिया का विजेता जल-मार्ग से अपने देश की ओर लौट चला, पर मार्ग में ही बाबेरू पहुँचकर ३२३ ई० पू० में उसका देहान्त हो गया।

अलक्षेन्द्र केवल विजयी योद्धा ही न था, वह नीतिकुशल और दूरदर्शी भी था। सहिष्णुता और एकछत्रत्व की भावना उसके चरित्र की विशेषताएँ थीं। अपनी शक्ति के साथ-साथ अन्य पक्ष की योग्यता

१—M'c Crindle, J. W., The Invasion of India by Alexander the Great. p. 308.

२—(i) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ५४०-१,
(ii) Tripathi, R. S. History of Ancient India (1942) p. 136-9

को भी स्वीकार करता था। वह स्वयं वीर था और वीरों का प्रशंसक भी था। वह साधु और विद्वान् की या तो स्वयं प्रतिष्ठा करता था या उनकी विशिष्टता और तपस्या को मानता था। भारत पर आक्रमण करने के प्रसंग में वह तक्षशिला के अनेक साधु-महात्माओं से मिला और उनके आश्रम पर गया था। ग्रीक लेखकों ने इस विषय की अनेक चर्चाएँ की हैं। तक्षशिला में वह जिन ऐसे व्यक्तियों से मिला था उनमें मंडनिस अथवा दंडनिस प्रमुख था। दंडमिस के अनेक शिष्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें से एक कालानास भी था। जिसे फुसलाकर अलक्षेन्द्र अपने साथ ले गया था। दंडमिस ने अपने आश्रम पर आए हुए मकदूनिया के सम्राट् को उसकी नृशंस विजय के लिए बहुत फटकार भी सुनाई थी। इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है[१]।

जिस समय अलक्षेन्द्र को रुष्ट करके चंद्रगुप्त उसके सामीप्य से हटा और चाणक्य ऐसे कुशलबुद्धि व्यक्ति की आंतरिक अनुकम्पा उसे प्राप्त हुई उसी समय से गुरु और शिष्य पंचनद के गणतंत्रों में इन विदेशियों के प्रति विरोधाग्नि प्रज्वलित करने में दत्तचित्त हो गए। संभव है इसी कारण विशेषतः अलक्षेन्द्र को पद-पद पर कठिनाइयों और विरोधों का सामना करना पड़ा था। उस मकदूनिया के वीर विजेता के संसर्ग में रहने के कारण भारत के भावी सम्राट् ने रणनीति मे कुशलता प्राप्त की और उसका प्रयोग भी तुरंत ही किया। भावी महत्त्वपूर्ण पद की संप्राप्ति की सूचना आधिदैविक रूप में ही उसे मिली थी जिसका उल्लेख जस्टिन ने किया है। व्याघ्र का सोते हुए चंद्रगुप्त का मुख चाटकर चला जाना और पालतू जीव की भाँति सहसा एक हाथी का संमुख आकर उसे अपने ऊपर बैठाकर भीषण युद्ध में योग देना ईश्वर की ही प्रेरणाएं थीं[२]। अपने सौभाग्य और कर्मनिष्ठा के बल पर चंद्रगुप्त ने शीघ्र ही पंचनद का अधिनायकत्व प्राप्त कर लिया। चाणक्य और चंद्रगुप्त के नेतृत्व में यूनानी सेनापतियों के प्रति भारतीय विद्रोह को सफलता प्राप्त हुई। पंजाब और सीमाप्रान्त चंद्रगुप्त के अधिकार में आ गए। इन प्रदेशों के नरपतियों ने अनायास अपने को स्वतंत्र करानेवाले मौर्य

१—M'c Crindle, J. W., The Invasion of India by Alexander the Great, p. 386-92.

२—वही, पृष्ठ ३२७-८।

चंद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की[१]। इन प्रदेशों से विदेशी सत्ता उच्छिन्न करने के उपरांत उन्हीं की संमिलित सेना[२] के सहयोग से उसने मगध के नंद का नाश किया। इस युद्ध में ऐतिहासिक नाटक मुद्राराक्षस के अनुसार चंद्रगुप्त का प्रधान सहायक पर्वतेश्वर था, पर इससे अधिक उसका और परिचय नहीं मिलता। कुछ लोगों ने उसी को पोरस [पुरु] कहा है[३]। पीछे चलकर चाणक्य ने पर्वतेश्वर का वध ऐसी चातुरी से कराया कि चंद्रगुप्त के मार्ग का कंटक भी दूर हो गया और सारा दोष नंद सम्राट् के प्रधानामात्य राक्षस के सिर मढ़ा गया। पश्चात् निर्विघ्न चंद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर ई० पू० ३२१ में आरूढ़ हुआ।

इसके अनंतर चंद्रगुप्त ने दक्षिण-विजय के लिए प्रस्थान किया। ग्रीक लेखकों का तो कहना है कि संपूर्ण भारतवर्ष उसके अधिकार में था; परन्तु इतना तो अवश्य ही प्रमाण-संमत मालूम पड़ता है कि विंध्य पर्वत से आगे के दक्षिण प्रांत भी उसके शासन में थे। दक्षिण-पश्चिम में उसके राज्य की सीमा सौराष्ट्र और पांडोइल पर्वत तक कही जाती है। मैसूर के लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उसके उत्तर तक मौर्य-साम्राज्य का विस्तार था[४]। दक्षिण-विजय के उपरांत ही साम्राज्य पर फिर विदेशी आक्रमण का भय उत्पन्न हुआ। अलक्षेंद्र की मृत्यु होने पर सिल्यूकस सीरिया प्रांत का अधिपति बन गया था। अलक्षेंद्र की पंचनद-विजय में भी वह पहले सेनापति के रूप में रह चुका था। उसके मन में पुनः भारत-विजय की कामना स्फुरित हुई। एक विशाल वाहिनी लेकर वह भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा पर आ पहुँचा। इधर सम्राट् चंद्रगुप्त उससे कहीं अधिक तत्पर दिखाई पड़ा। इन दोनों में प्रायः ई० पू० ३०५ में एक विकट युद्ध हुआ। पर इस युद्ध का विस्तृत वृत्तांत कहीं नहीं मिलता। परिणाम के विषय में

१—मौर्य-साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ २२१।

२—विरोधगुप्तः—तथ कथयामि। अस्ति तावत् शकयवनकिरातकाम्बोजपारसीकवाल्हीक प्रभृतिभिः चाणक्यमतिपरिगृहीतैः चन्द्रगुप्तपर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव प्रलयोच्चलितसलिलैः समन्तात् उपरुद्धं कुसुमपुरम्।—मुद्राराक्षस (द्वितीयांक)।

३—Tripathi, R. S, History of Ancient India, p. 148.

४—Hemchandra Ray Ghaudhuri, Political History of India, p. 183-4.

देशी-विदेशी[1] सभी लेखक एकमत हैं। सिल्यूकस की पराजय हुई और दोनों सम्राटों में संधि हो गई। सीरिया के शासक ने वर्तमान लासबेला, कलात, कंदहार, हेरात और काबुल के प्रदेश मौर्य सम्राट को दिए। इस मैत्री की प्रतिष्ठा में उसने अपनी बेटी एथिना[2] का विवाह भी चंद्रगुप्त के साथ कर दिया। इसके उपरांत निरापद हो कर चंद्रगुप्त अपने साम्राज्य की शांति-स्थापना में लगा।

कथानक

इस नाटक का कथानक अन्य नाटकों की भाँति न तो पाँच अंकों का है और न तीन का। चार अंकों में संपूर्ण कथा को बाँधने से कार्य की अवस्थाएँ संघटित करने में विशेष कौशल की आवश्यकता पड़ी है। सारे कथानक में तीन प्रमुख घटनाएँ हैं—अलक्षेंद्र का आक्रमण, नंद-कुल का उन्मूलन और सिल्यूकस का पराभव। इन तीनों महत्वपूर्ण भारतीय राजनीतिक घटनाओं में तर्क और बुद्धिसंगत संबंध भी है। इसी संगति की सुलभता को लेकर नाटक का संविधान हुआ है और इस विधान का लक्ष्य यही है कि तीनों इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं की प्रेरकता का श्रेय एक व्यक्ति को मिले। इसी व्यक्ति के चरित्र विकास-क्रम को आधार मानकर कथानक बाँधा गया है। घटनाओं और स्थितियों को इस क्रम से सजाया गया है कि इतिहास की संगति के साथ नाटक के चरित्र-विकास का सामंजस्य होता चले। वस्तु विन्यास के इसी सौष्ठव के कारण नाटकीय समष्टि-प्रभाव का जितना सुंदर और सुसंगत आभोग इस नाटक में हो सका है उतना लेखक की अन्य किसी रचना में नहीं।

लेखक ने प्रथम दो प्रधान घटनाओं को पहले लिया है। इसीलिए उनके संबद्ध प्रमुख व्यक्तियों के परस्पर संबंध का परिचय आरंभ में कराया गया है। तक्षशिला के गुरुकुल में ही युवकों की एक मंडली ऐसी दिखाई पड़ती है, जो तत्कालीन राजनीतिक क्रांति की अग्नि-शिखा को प्रज्वलित करने के लिए प्रयत्नशील हो रही है। वहीं से मैत्री, प्रेम

---

१ M'c Crindle, J. W. The Invasion of India by Alexander the Great, p. 407.

२—जनार्दन भट्ट—बौद्धकालीन भारत (सं० १६४२), पृ० ११४।

और विरोध का आरंभ होता है। फिर इनके विपक्ष-दल का परिचय मिलता है। क्रमानुसार विरुद्ध दलों का सामना होता है और विरोध की जटिलता बढ़ती है। कथानक विकासोन्मुख होकर मगध से लेकर गांधार तक फैलता है। कार्य-व्यापारों के दो केंद्रस्थल बन जाते हैं। इधर चंद्रगुप्त और चाणक्य नंदकुल से संघर्ष की जड़ जमाकर विरोध को उकसा देते हैं और सीमाप्रांत की ओर बढ़ जाते हैं। उधर सिंहरण और अलका की प्रेरणा और आंभीक के विरोध से सिंधु-तट पर भी संघर्ष आरंभ हो जाता है। वहाँ घटना-स्थिति से प्रेरित सिल्यूकस और चंद्रगुप्त का परिचय होता है। दांड्यायन के आश्रम में दोनों विरोधी पक्षों का संमेलन होता है और वहीं चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष के विषय में दांड्यायन की भविष्यवाणी के कारण सभी का ध्यान उसके महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रथम अंक में साध्य-साधन के पूर्ण परिचय के साथ-साथ मगध से लेकर गांधार तक की राजनीतिक स्थिति का पूर्ण प्रकाशन हो जाता है और चंद्रगुप्त के महत्त्व का स्थापन भी सुंदर ढङ्ग से कर दिया जाता है।

दूसरे अंक में केवल पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की राजनीतिक वस्तु-स्थिति का ही विस्तृत उद्घाटन हुआ है। चंद्रगुप्त फिलिप्स के कामुक आक्रमण से कार्नेलिया की रक्षा करके उसका प्रेमभाजन बन जाता है। सिकंदर को नीचा दिखाकर उसकी शक्ति-सीमा के भीतर से वह निर्भय निकल जाता है। चाणक्य, चंद्रगुप्त, सिंहरण एवं अलका से मंत्रणा करके युक्तिपूर्वक विदेशी सेना की यथार्थ जानकारी प्राप्त करता है। इसी विश्वास पर पर्वतेश्वर और सिकंदर के युद्ध में अपनी मंडली के साथ योग देता है। सिकंदर और पुरु में संधि हो जाती है। चाणक्य के बुद्धि-कौशल से प्रभावित अपनी सेना के विमुख होने पर मार्ग में आ पड़नेवाले क्षुद्रकों एवं मालवों को परास्त करता हुआ अलक्षेंद्र अपने देश को लौटना चाहता है। अभी तक चंद्रगुप्त का उससे प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं हुआ है; पर चंद्रगुप्त की उत्कर्ष-स्थापना के लिए यह आव-श्यक था, अतएव उक्त दोनों गणतंत्रों का सेनापति चंद्रगुप्त बनता है। अलका के चक्र में पड़कर पर्वतेश्वर भी युद्ध में योग देता है और ठीक अवसर पर पुनः सिकंदर की सहायता में तत्पर होता है। कल्याणी और राक्षस भी मगध-सेना लेकर चाणक्य के उद्योग में सहायक होते हैं।

मालव-दुर्ग पर सिकंदर आक्रमण करता है। अकेली मालविका और अलका बड़ी तत्परता से विरोध करती हैं। सिकंदर स्वयं कोट पर चढ़ कर भीतर कूद पड़ता है। वहाँ कठोर युद्ध के बाद सिकंदर घायल होकर अचेत हो जाता है। इस प्रकार चंद्रगुप्त उदारतापूर्वक सिकंदर को यवन सेनापति के हाथ सौंपकर सुरक्षित निकल जाने की अनुमति देता है। इस स्थान पर आकर कर्माश्रित चंद्रगुप्त का उत्कर्ष स्थापित हो जाता है।

तृतीय अंक में पुनः सारे कार्य-व्यापारों का अखाड़ा मगध बनता है और सीमाप्रांत का जमघट एक बार फिर धीरे-धीरे इसी ओर बढ़ने लगता है। चाणक्य अपनी कूट-बुद्धि के बल से चंद्रगुप्त को सर्वशक्ति-संपन्न बनाकर अब नंदकुल के उन्मूलन की ओर प्रवृत्त करने लगता है और स्वयं उसकी समस्त योजना में व्यस्त दिखाई पड़ता है। अपने चरों द्वारा सब से पहले वह राक्षस का विश्वास उपार्जित करता है। फिर ठीक अवसर पर पहुँचकर आत्महत्या पर तत्पर पर्वतेश्वर का उद्धार करता और उसे अपनी उद्देश्य-पूर्ति का एक सच्चा साधन बनाता है। राक्षस को नंद के आतंक से मुक्त करने का ढोंग रचकर और सुवासिनी से मिलाने का प्रलोभन देकर उसकी मुद्रा प्राप्त कर लेता है। कल्याणी को मगध की ओर बढ़ने की स्वीकृति दे देता है और बड़े संमान और मैत्री-भाव से सिकंदर की विदाई करता है। इस विदेशी शत्रु से छुट्टी पाकर उस स्थान की राजनीतिक बागडोर सिंहरण के हाथ में सौंप देता है, क्योंकि चाणक्य का उस पर पूर्ण विश्वास है। पर्वतेश्वर वहाँ रहकर कुछ विघ्न उत्पन्न कर सकता है, इसलिए पूरी सैनिक सज्जा से उसे अपने साथ मगध की ओर चलने का आदेश देता है। उत्तरापथ की दासता के अवशिष्ट चिह्न फिलिप्स के शासन को मिटा देने के लिए चंद्रगुप्त ही उपयुक्त पात्र है, अतएव उसे कुछ समय के लिए वहीं छोड़ देता है; क्योंकि अभी मगध के मार्ग को उसके लिए कंटकाकीर्ण समझता है। परिस्थिति को चंद्रगुप्त के अनुकूल बनाकर तब उसे मगध में जाने देने का विचार करता है।

इधर जिस समय रंगशाला में नंद सुवासिनी से प्रणय की याचना कर रहा था उसी समय राक्षस पहुँचकर उससे सुवासिनी की रक्षा करता है और यहीं से राजा उसका शत्रु बन जाता है। चंद्रगुप्त के

माता-पिता कारागार में हैं। मंत्री वररुचि अपदस्थ कर दिया गया है। नागरिकवृंद नंद की उच्छृङ्खलताओं से असंतुष्ट हैं। ठीक इसी अवसर पर अपनी पूरी तैयारी के साथ चाणक्य कुसुमपुर के समीप पहुँचता है। मालविका को ठीक करता है कि वह राक्षस-सुवासिनी के विवाह के एक घंटा पूर्व सुवासिनी के नाम राक्षस का एक जाली पत्र जाकर नंद को दे। चाणक्य इसी समय सहसा अंधकूप से निकले शकटार से मिलता है और उस नंद-विद्वेषी को अनुकूल बनाकर अपने साथ लगा लेता है। मालविका पत्र और मुद्रा के साथ पकड़कर नन्द की सभा में लाई जाती है उससे प्राप्त पत्र को पढ़कर नंद राक्षस और सुवासिनी पर अत्यन्त कुपित होता है और उन्हें तुरंत पकड़कर लाने की आज्ञा देता है।

पूर्वनिश्चय के अनुसार पर्वतेश्वर अपनी सेना के साथ कुसुमपुर में पहुँचकर चाणक्य से मिलता है। फिलिप्स को द्वंद्व में मारकर चंद्रगुप्त भी ठीक अवसर पर पहुँच जाता है। इस प्रकार चाणक्य द्वारा रचित विद्रोह-व्यूह पूर्णता प्राप्त कर लेता है। इसी समय राक्षस और सुवासिनी के अपमानपूर्वक राजवंदी बनाए जाने की आकस्मिक सूचना पाकर क्षुब्ध हुई जनता न्याय की दुहाई देती हुई एकत्र होती है और चाणक्य-मंडली के लोग एक-एक कर अपना परिचय देते हुए उसी में संमिलित हो जाते हैं। इन विद्रोहियों का नेता चंद्रगुप्त बनता है। यह विद्रोही-समूह राजसभा में ठीक उसी समय पहुँचता है जब लोग राक्षस और सुवासिनी को अंध कूप में डालने के लिए ले जा रहे हैं। यह दृश्य देखकर क्षुब्ध नागरिक उत्तेजित हो उठते हैं। अंत में परिणाम यह होता है कि नंद को बचाते-बचाते भी शकटार उसे मार डालता है और सब लोग एक स्वर से चंद्रगुप्त को शासक स्वीकार करते हैं। राक्षस उसका हाथ पकड़कर राज्यसिंहासन पर बैठा देता है।

अब चन्द्रगुप्त के राज्य-शासन को निष्कंटक बनाना और उसे साम्राज्य का बृहत् रूप देना शेष है। कंटक दो हो सकते हैं, कल्याणी एवं पणबन्ध के अनुसार आधे मगध का अधिकारी पर्वतेश्वर। चतुर्थ अङ्क इन्हीं दोनों कण्टकों के व्यापार से आरम्भ होता है। चाणक्य का विचार यह है कि यदि कल्याणी जीवित रहती है तो सम्भव है कि नन्द के अनुयायी उसी को एकमात्र नन्दकुल का अवशेष मानकर चन्द्रगुप्त के

राज्य-सञ्चालन में विघ्न उत्पन्न करें। ऐसी अवस्था में लेखक इसी को विषकन्या का बौद्धिक रूप देकर उसके द्वारा आधे राज्य के अधिकारी पर्वतेश्वर की हत्या करा देता है। इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त के लिए अपना प्रेम अभिव्यक्त कर अपने पिता की हत्या के विरोध रूप में कल्याणी भी आत्महत्या कर लेती है। अब चन्द्रगुप्त दक्षिण विजय के लिए जाता है। राज्य के निष्कंटक हो जाने पर उसे अब भावी महत्त्वपूर्ण अभीष्ट-सिद्धि के लिए विशेष कीर्ति और शक्ति की आवश्यकता है।

सुवासिनी पर चाणक्य की भी कुछ अनुरक्ति है, इस कारण राक्षस पुनः चाणक्य से खिंच जाता है। चंद्रगुप्त की दक्षिण-विजय पर उत्सव न किया जाय, चाणक्य के इस आदेश के विरोध में जो खड़े होते हैं उनके साथ राक्षस का भी सहयोग है। इस अंतःकलह के अतिरिक्त वाह्लीक की सीमा पर नवीन यवन सेना एकत्र हो रही है। सिल्यूकस सिकंदर के पूर्वी प्रांतों की ओर दत्तचित्त है। इसको सुयोग मानकर चाणक्य चंद्रगुप्त के यथार्थ साम्राज्य-स्थापन के विचार से प्रसन्न है। अब उसके संमुख एक ओर पाटलिपुत्र का षड्यंत्र और दूसरी ओर यवनों का भावी आक्रमण है। उत्सव-विरोध के कारण रूठकर अपने माता-पिता के चले जाने का प्रसंग उठाकर चंद्रगुप्त चाणक्य का विरोध करता है इस पर चाणक्य रूठकर चला जाता है। राक्षस के नेतृत्व में जो चंद्रगुप्त की हत्या की योजना हुई है और जिसके परिणामस्वरूप मालविका मारी जाती है उसकी सूचना देकर सिंहरण भी चाणक्य को खोजने चला जाता है। इस प्रकार कूट चातुरी से चाणक्य आवश्यक व्यक्तियों को सीमाप्रांत की ओर खींच ले जाता है। सिंधुतट पर बैठकर कात्यायन को मगध की ओर इस विचार से भेजता है कि चंद्रगुप्त को समय पर वहाँ भेजे और शकटार के साथ मगध की देखरेख करे। स्वयं आंभीक को अपने पक्ष में लाता है और अलका का आदर्श संमुख रखकर उसे उत्साहित करता है। आंभीक भी खड्ग लेकर शपथ कर लेता है कि मैं भी चंद्रगुप्त का साथी बनकर आक्रमणकारी से लड़ूँगा।

राक्षस अब ग्रीक शिविर में कार्नेलिया को पढ़ाता और सिल्यूकस के साथ रहता है। अपनी झोपड़ी में सहसा सुवासिनी को आया पाकर